आनन्द

उपाध्याय अमर मुनि

आनन्द

आनन्द

उपाध्याय अमरमुनि

सुगाल एण्ड दामाणी
11, पोनप्पा लेन, ट्रिप्लीकेन, चेन्नई - 5

❖ आनन्द
❖ उपाध्याय अमरमुनि
❖ पुनर्मुद्रण: 2007
❖ **Published by**

Sugal & Damani
No. 11, Ponnappa Lane, Triplicane
Chennai-600 005, India.
Phone : 044 - 2848 1354, 2848 1366
E-mail: sugalchand@yahoo.com
www.sugaldamani.com

Copies can be had from

SUGAL & DAMANI
6/35.W.E.A. Karolbagh,
New Delhi - 110 005.

405, Krushal Commercial Complex
G.M.Road, Above Shoppers' Stop
Chembur(W), Mumbai-400089.

A Wing, Kapil Tower,
II Floor 45, Dr. Ambedkar Road,
Near Sangam Bridge, Pune - 411001.

1554, Sant Dass Street,
Clock Tower, Ludhiana-141008.

Swagat Business Pvt. Ltd.
46-A, Pandit Madan Mohan Malvyia Sarani,
Chakravaria Road North, Kolkatta - 700 020. (W.B.)

❖ कम्प्यूटराइज्ड : जैन प्रकाशन केन्द्र, चेन्नई
❖ मुद्रक : गोपसन्स पेपर्स लिमिटेड, नोएडा
❖ मूल्य : 299 रुपये
❖ ISBN : 978-81-904253-0-8

आशीर्वचन

विश्व आक्रान्त है, चिंतित है, समस्याओं से ग्रसित है तथा सुख एवं आनन्द के प्रशस्त राजमार्ग की खोज में जुटा हुआ है, किन्तु वहाँ तक पहुँच ही नहीं पा रहा है । चाह है, लगन है, परन्तु कार्यान्विती नहीं है । पूज्य गुरुदेव राष्ट्रसन्त उपाध्याय अमरमुनि जी ने भगवान् महावीर के उपदेश को आत्मसात् करते हुए उन्हें क्रियान्वित किया- वीरायतन के माध्यम से । यही कारण है कि वे अमर हो गये ।

आज गुरुदेव भले ही देह रूप में हमारे मध्य नहीं है तथापि उनकी वाणी, उनका उपदेश आज भी हमें सम्बोधित एवं उद्बोधित कर रहा है तथा प्रेरणा प्रदान कर रहा है- सतत जागरण की, अहर्निश अग्रसर होने की !

श्री सुगालचन्दजी सिंघवी तथा उनका प्रतिष्ठान 'सुगाल एण्ड दमानी' गुरुदेव श्री की पुस्तक- अपरिग्रह दर्शन का नूतन संस्करण प्रकाशित कर रहे हैं, यह ज्ञात कर हार्दिक प्रसन्नता हुई । इस प्रकाशन के लिये मेरी मंगल भावनाएं । भविष्य में भी वे इसी प्रकार गुरुदेव श्री की विचारधारा को जन-जन तक पहुँचाने में सहभागी बनेंगे, यही सत्कामना ।

पाठकगण इस पुस्तक से अवश्य ही लाभान्वित होंगे तथा जीवन में आनन्द, सुख तथा शान्ति का शुभ्र एवं निर्मलतम निर्झर बहायेंगे । इसी विश्वास के साथ-

- आचार्य माँ चन्दना

प्रकाशकीय

आज विश्व के जन, धन के उपार्जन में अहर्निश संलग्न हैं। धन के उपार्जन में व्यक्ति अपने राष्ट्र, ग्राम तथा परिजनों को तो भूल ही जाता है, साथ ही साथ स्वतः को भी विस्मृत कर जाता है। उसे यह भी ध्यान नहीं रहता कि मैं मानव हूँ तथा मानवता के भाव मेरे में सतत विद्यमान रहने चाहिये। वह धनोपार्जन में इतना तल्लीन हो जाता है कि जीवन की वास्तविकता को भी विस्मृत कर देता है।

धन का उपयोग राष्ट्र, समाज, परिजन के चहुँमुखी विकास में होना चाहिये। धन का उपयोग केवल 'स्व' के स्वार्थ तक ही सीमित नहीं रहना चाहिये। सतत उपयोग के बाद भी न्याय एवं नीति से धन का संग्रह होता है तो कविवर बिहारी की इस उक्ति को ध्यान में ले लीजिये- खाये खरचे जो जुरै तो जोड़िये धन करोरी।

जैन दर्शन में इस पर अधिक गहराई से चिंतन किया गया है। यहाँ कहा गया है कि परिग्रह का परिमाण करो तथा इच्छाओं की भयावह अटवी से अपने आप को मुक्त करो तथा जो अब तक संग्रह किया है, उस धन का भी उचित वितरण करो। भगवान् महावीर ने कहा है- संविभाग नहीं करने वाले को मोक्ष नहीं है। अपने लिये तो हर व्यक्ति जीता है किन्तु जो सारे विश्व को ही कुटुम्ब मानकर चलता है, वह व्यक्ति धन्य है।

कविवर्य, राष्ट्रसन्त, उपाध्याय श्री अमरमुनिजी म. सा. ने समय समय- पर अपने प्रवचनों में अपरिग्रह दर्शन की विशद व्याख्या की है, उन्हीं के प्रवचनों को पण्डित रत्न श्री विजयमुनिजी म. सा. ने

सम्पादित कर "अपरिग्रह दर्शन" के रूप में सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा से प्रकाशित करवाया ।

उपरोक्त पुस्तक का समय-समय पर मैंने पारायण किया तथा मन में संकल्प जगा कि इसे नवीन रूप में पुनः प्रकाशित करवाना चाहिये । आचार्य श्री माँ चन्दना जी से मन की बात कही तो उन्होंने सहज ही में स्वीकृति प्रदान कर हमे कृतार्थ किया । हम आभारी हैं आचार्य श्री जी के ।

आशा ही नहीं अपितु विश्वास है कि इस पुस्तक का अध्ययन कर जन-जन जैन दर्शन के अपरिग्रह के सार्वभौम सिद्धान्त से परिचित होगा तथा आकांक्षाओं एवं इच्छाओं के दल-दल से अपने जीवन को विमुक्त रखते हुए अपने जीवन को आनन्द के राजमार्ग की ओर अग्रसर करेगा ।

आपको यह कृति क्या प्रेरणा प्रदान करती है तथा इस कृति को पढ़कर आपके जीवन में क्या परिवर्तन आता है ? मुझे यह जानकारी प्रदान करते रहेंगे तो मैं अपने प्रयास को सार्थक समझूंगा ।

मैं अपने सहभागी श्री जी. एन. दमाणी, श्री आर. एन. दमाणी, श्री प्रवीणभाई छेडा, श्री किशोर अजमेरा एवं मेरे सुपुत्र चि. प्रसन्नचन्द, चि. विनोद कुमार का भी आभार प्रकट करूंगा कि उन्होंने मुझे प्रोत्साहित किया तथा पुस्तक मुद्रण करवाने में हार्दिक सहयोग प्रदान किया।

- N. सुगालचन्द जैन

चेन्नई

जीवो जीवस्य जीवनम्

संसार के सभी धर्म अहिंसा और सत्य को संस्कृति का आधार मान कर चलते हैं । जब तक हमारे पारस्परिक व्यवहार में ईमानदारी नहीं आती, एक दूसरे की लाश पर अपना महल खड़ा करने के स्थान पर परस्पर सहयोग की भावना जागृत नहीं होती, तब तक लाख आविष्कार करने पर भी मानव, दानव ही बना रहेगा । मानवता के विकास का माप-दण्ड पृथ्वी, आकाश और जल पर आधिपत्य नहीं, किन्तु अपने पर आधिपत्य है । अपने आप पर अपना अधिकार हो ।

अहिंसा को आदर्श रूप में स्वीकार करने पर भी इस बात पर बहुत कम सोचा गया है कि उसे जीवन में कैसे उतारा जाए । यदि हम यह मान कर चलते हैं कि 'जीवो जीवस्य जीवनम्' तो अहिंसा केवल सिद्धान्त की ही बात रह जाती है । जीने की इच्छा प्रत्येक प्राणी में स्वाभाविक रूप से विद्यमान है और उसकी पूर्ति यदि दूसरे के प्राणों पर निर्भर है, तो हो चुका । फिर सारे संसार को आत्मरूप मानकर मित्रता का उपदेश देना ऐसा ही है, जैसे भूखे को कहा जाए- 'रोटी में भी तुम्हारी आत्मा है, इसलिए इसे मत खाओ ।'

इस प्रश्न का उत्तर जैन परम्परा ने दिया है । उसने कहा- 'जीवो जीवस्य जीवनम्' का सिद्धान्त जंगली पशुओं के लिए हो सकता है, जो परस्पर सहयोग से रहना नहीं जानते । मानव-जीवन का आधार तो 'परस्परोपग्रहो जीवनाम्' है । अर्थात् एक जीव दूसरे जीव का उपकारी

या सहयोगी बनकर भी जी सकता है । यदि हम गाय की सेवा करके दूध का कुछ हिस्सा प्राप्त कर लेते हैं, तो यह परस्परोपग्रह है । इसके विपरीत गाय का मांस खाना 'जीवो जीवस्य जीवनम्' है । इस प्रकार भगवान् महावीर ने केवल त्याग का उपदेश नहीं दिया, किन्तु मानव-जीवन के सुख-पूर्वक निर्वाह के लिए एक नया दृष्टिकोण भी दिया ।

किन्तु परस्परोपग्रह का सिद्धान्त बताकर ही वे मौन नहीं रहे । उसे जीवन में उतारने के लिए उन्होंने एक नया सिद्धान्त उपस्थित किया और वह है- अपरिग्रह ।

व्यक्ति, समाज या राष्ट्रों में परस्पर संघर्ष का कारण यह नहीं है कि उनके पास निर्वाह के साधनों की कमी है । संसार की जनसंख्या जितनी है, उसे देखते हुए उपज कम नहीं है । फिर भी कृत्रिम अभाव की सृष्टि की जाती है । एक व्यक्ति आग तापने के लिए दूसरे की झोंपड़ी को जला डालता है । स्वयं सारा जीवन और बेटे, पोते-पड़पोतों तक निश्चिंत बनने के लिए पड़ोसी के भूखे बच्चों के मुँह से रोटी छीन लेता है । जब तक इस प्रकार संग्रह-बुद्धि बनी रहेगी, अहिंसा और सत्य के उपदेश जीवन में नहीं उतर सकते । इसीलिए भगवान् महावीर ने अपरिग्रह पर जोर दिया है ।

इसकी व्याख्या कई प्रकार से की जाती है । यदि समाज को सामने रखा जाए तो इसका अर्थ है- संचय का अभाव । इसका अर्थ है- अपनी आवश्यकताओं को कम करके दूसरों की सुख-बुद्धि में सहायक होना ।

आध्यात्मिक दृष्टि से देखा जाए तो इसका अर्थ है- स्व को घटाते-घटाते इतना कम कर देना कि पर ही रह जाए, स्व कुछ न रहे । उपरोक्त व्यवस्था बौद्ध-दर्शन की है । वेदान्ती इसी को दूसरे रूप में प्रस्तुत करता है । वह कहता है, स्व को इतना विशाल बना दो कि

पर कुछ न रहे । दोनों का अन्तिम लक्ष्य है- 'स्व' और 'पर' के भेद को मिटा देना और यही आध्यात्मिक अपरिग्रह है । जैन-दर्शन यथार्थवादी बनकर इसी को अनासक्ति के रूप में प्रस्तुत करता है । वह कहता है, व्यक्तियों में परस्पर भेद तो यथार्थ है, और रहेगा ही, भेद की सत्ता हमारे विकास को रोक सकती । किन्तु अपने को किसी एक वस्तु के साथ चिपका देना ही विकास की सबसे बड़ी बाधा है । इसी को मूर्च्छा शब्द से पुकारा गया है । इस प्रकार अपरिग्रह का सिद्धान्त समाज और व्यक्ति दोनों के विकास का मूल मंत्र बन गया है ।

धन, सम्पत्ति, सन्तान, शरीर आदि बाह्य वस्तुओं में आसक्ति तो परिग्रह है ही किन्तु मेरे मन में कई बार एक विचार और भी आया । क्या अपने विचारों की आसक्ति, परिग्रह नहीं है ? यदि मनुष्य प्रत्येक 'सत्यं, शिवं सुन्दरं' को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत रहे, अपने हृदय के द्वार खुले रखे, सत्य का अन्वेषक बनकर अपने विचारों में परिवर्तन के लिए तैयार रहे तो धर्म और ग्रन्थों के झगड़े समाप्त हो जाएँ । मेरी दृष्टि में 'विचारों में अपरिग्रह' का ही दूसरा नाम 'स्याद्वाद' है और यह जैन-धर्म की सबसे बड़ी देन है ।

प्रस्तुत पुस्तक में अपरिग्रह महाव्रत के उपासक राष्ट्रसन्त कविरत्न उपाध्याय श्री अमरमुनिजी महाराज ने इसी विषय पर अपने विचार प्रकट किए हैं । उनकी भूमिका में विशाल अध्ययन और मनन तो है ही, दीर्घ-कालीन अनुभव भी है । उनके विचार समाज तथा व्यक्ति के लिए प्रकाश-दायक होंगे, ऐसी मुझे पूर्ण आशा है ।

डॉ. इन्द्रचन्द्र
एम. ए., पी-एच. डी.,
शास्त्राचार्य, वेदान्त-वारिधि

अनुक्रमणिका

1.	इच्छाओं की पूर्ति कठिन	5
2	इच्छाओं का अन्तहीन आकाश	11
3.	सच्चा सुख और आनन्द	17
4.	आसक्ति पाप है	23
5.	परिग्रह की सीमाएँ	29
6.	आवश्यकताएं और इच्छाएं	37
7	तृष्णा की आग	67
8	अपरिग्रह और दान	97
9.	परिग्रह क्या है ?	123
10.	आसक्ति : परिग्रह	149
11.	आनन्द प्राप्ति का मार्ग	177
12.	साधक जीवन : समस्याएं और समाधान	189
13.	इच्छाओं के द्वन्द्व का समाधान	207
14.	जीवन और संरक्षण	227
15.	जीवन और अहिंसा	239
16.	व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्ति	255
17.	सर्वोदय और समाज	267
18.	तीर्थंकर महावीर का अपरिग्रह दर्शन	283
19.	इच्छाओं का वर्गीकरण	293
20.	अपरिग्रह : शोषण–मुक्ति	307
21.	आत्मा का संगीत : अहिंसा	313
22.	पंचशील और पंच शिक्षा	323

उपदेशामृतम्

विरम-विरम संगान्
मुंच-मुंच प्रपंचम् ।
विसृज-विसृज मोहं
विद्धि-विद्धि स्व-तत्त्वम् ।।

कलय-कलय वृत्तं
पश्य-पश्य स्व-रूपम् ।
कुरु-कुरु पुरूषार्थं
निर्वृत्तानन्द - हेतोः ।।

- आचार्य शुभचन्द्र

आनन्द

'आकांक्षाओं का परित्याग कर दो ।' सुख का यही राजमार्ग है । यदि इच्छाओं का सम्पूर्ण त्याग करने की क्षमता तुम अपने अन्दर नहीं पाते, तो इच्छाओं का परिमाण कर लो । यह भी सुख का एक अर्ध-विकसित मार्ग है । संसार में भोग्य पदार्थ अनन्त है । किस-किस की इच्छा करोगे, किस-किस को भोगोगे । पुद्गलों का भोग अनन्त काल से हो रहा है, क्या शान्ति एवं सुख मिला ? सुख तृष्णा के क्षय में है, सुख इच्छा के निरोध में है ।

जैन-धर्म का आदर्श केवल कल्पना का आदर्शवाद नहीं है । वह आदर्श के साथ यथार्थ का भी समन्वय करता है । वह निवृत्ति के साथ यथार्थ को भी स्वीकार करता है । वह साधक के लिए आवश्यकताओं को पूरा करना परिग्रह नहीं मानता । वह आवश्यकता से नहीं, इच्छा से निवृत्त होने का उपदेश देता है । संसार से मुक्त होने की साधना करने वाला साधु भी आवश्यकताओं का पूर्णतः त्याग नहीं कर सकता । इसलिए आगम में वस्तु एवं आवश्यक पदार्थों को परिग्रह नहीं कहा है । मूर्च्छा और आसक्ति को परिग्रह कहा है ।

इच्छाओं की पूर्ति कठिन

परिग्रह क्या है ? परिग्रह का शाब्दिक अर्थ है- वस्तु का ग्रहण करना । इस दृष्टि से केवल सम्पत्ति एवं साधन ही नहीं, बल्कि जीवन के लिए आवश्यक पदार्थ और यहाँ तक कि शरीर एवं कर्म भी परिग्रह की सीमा में आयेंगे । यदि वस्तु ग्रहण करना परिग्रह है, तो उसके तीन भेद किये जा सकते हैं- १. शरीर, २. कर्म और ३. उपधि- भोगोपभोग के साधन । क्योंकि हमारी आत्मा ने शरीर को ग्रहण कर रखा है और संसार में रहते हुए कोई भी ऐसा समय नहीं आता कि हम शरीर से पूर्णतः मुक्त हो जायें । एक गति से दूसरी गति में जाते समय स्थूल शरीर नहीं रहता परन्तु सूक्ष्म-तेजस् और कार्मण शरीर तो उस समय भी आत्मा के साथ लगा रहता है । इसी तरह वह प्रति समय, प्रति क्षण कर्मों को भी ग्रहण करता रहता है । संसार अवस्था में एक भी समय ऐसा नहीं आता, जब कि नये कर्म आत्मा के साथ सम्बद्ध नहीं होते हों । भले ही तेरहवें गुणस्थान में भावों की पूर्ण विशुद्धता एवं राग-द्वेष का अभाव होने के कारण कर्मों का स्थिति और अनुभाग बन्ध न होता हो, भले ही वे पहले समय में आकर दूसरे समय में ही नष्ट हो जाते हों, परन्तु फिर भी आते अवश्य हैं । शरीर एवं कर्मों का पूर्णतः अभाव सिद्ध अवस्था में ही होता है, संसार अवस्था में नहीं । अतः आत्मा ने शरीर को भी ग्रहण कर रखा है, और वह प्रति समय कर्म भी ग्रहण करती रहती है । इसलिए शरीर और कर्म भी परिग्रह में गिने गये हैं । गांधीजी ने भी

लिखा है कि 'केवल सत्य की दृष्टि या आत्मा की दृष्टि से विचारें तो शरीर भी परिग्रह है ।' इसके अतिरिक्त धन-धान्य, मकान, खेत आदि समस्त भोगोपभोग की सामग्री भी परिग्रह ही है ।

इस तरह दुनियाँ में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं मिलेगा कि जो परिग्रह से पूर्णतः मुक्त हो । पूर्णतः नग्न रहने वाला साधु भी परिग्रह से मुक्त नहीं कहा जा सकता । क्योंकि वह भी शय्या-तख्त, घास-फूँस आदि स्वीकार करता है, शौच के लिए कमण्डल रखता है, जीव-रक्षा के लिए मोरपिच्छी रखता है, पढ़ने एवं स्वाध्याय के लिए ग्रन्थ ग्रहण करता है, आहार-पानी ग्रहण करता है, शिष्य-शिष्याओं को स्वीकार करता है । इसके अतिरिक्त शरीर तो उसने धारण कर ही रखा है और वह प्रति समय कर्मों को ग्रहण भी करता है । अतः यदि वस्तु-ग्रहण करना परिग्रह का अर्थ माना जाए, तो दुनियाँ में कोई भी व्यक्ति अपरिग्रह व्रत की साधना नहीं कर सकेगा ।

मनुष्य जब तक संसार में रहता है, तब तक वह आवश्यकताओं से घिरा रहता है । आध्यात्मिक साधना में संलग्न व्यक्ति को भी अपने शरीर को स्वस्थ एवं गतिशील रखने तथा आत्मा का विकास करने के लिए कुछ साधनों की आवश्यकता रहती ही है । ऐसा कभी भी सम्भव नहीं हो सकता कि शरीर के रहते हुए उसे किसी भी वस्तु की आवश्यकता न हो । यह बात अलग है कि व्यक्ति आवश्यकता को कामना का, इच्छा का रूप दे दे । आवश्यकता की पूर्ति तो हो सकती है परन्तु कामना, इच्छा एवं आकांक्षा की पूर्ति होना कठिन है । इच्छाओं का जाल

आवश्यकता की पूर्ति तो हो सकती है परन्तु कामना, इच्छा एवं आकांक्षा की पूर्ति होना कठिन है।

इतना उलझा हुआ है कि एक उलझन के सुलझते ही दूसरी उलझन सामने आ जाती है । उसका कभी भी अन्त नहीं होता । अतः हमें यह समझ लेना चाहिए कि आवश्यकता अलग है और इच्छा, आसक्ति एवं आकांक्षा कुछ अलग है । आज लोगों में परिग्रह को लेकर जो संघर्ष या विवाद चल रहा है, वह इच्छा और आवश्यकता के बीच के अन्तर को नहीं समझने के कारण ही उत्पन्न हुआ है ।

यह नितान्त सत्य है कि जैन-धर्म आदर्शवादी है, निवृत्ति प्रधान है । वह साधक को निवृत्ति की ओर बढ़ने की प्रेरणा देता है । परन्तु वह कोरा आदर्शवादी नहीं है, यथार्थवादी भी है । कोरा आदर्श केवल कल्पना के आकाश में उड़ानें भरता रहता है । केवल कल्पना के आकाश में विचरने से काम नहीं चलता । कल्पना के आकाश में राकेट से भी तीव्र गति से उड़ने वाले की अपेक्षा, धरती पर मन्थर गति से चलने वाला अच्छा है । कम से कम वह रास्ता तो तय करता है ।

जैन-धर्म का आदर्श केवल कल्पना का आदर्शवाद नहीं है । वह आदर्श के साथ यथार्थ का भी समन्वय करता है । वह निवृत्ति के साथ यथार्थ को भी स्वीकार करता है । वह साधक के लिए आवश्यकताओं को पूरा करना परिग्रह नहीं मानता । वह आवश्यकता से नहीं, इच्छा से निवृत्त होने का उपदेश देता है । संसार से मुक्त होने की साधना करने वाला साधु भी आवश्यकताओं का पूर्णतः त्याग नहीं कर सकता । इसलिए आगम में वस्तु एवं आवश्यक पदार्थों को परिग्रह नहीं कहा है । मूर्च्छा और आसक्ति को परिग्रह कहा है ।[1] तत्त्वार्थ सूत्र में भी मूर्च्छा को ही परिग्रह बताया है ।[2]

---

1. मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, नायपुत्तेण ताइणा । - दशवैकालिक सूत्र
2. मूर्च्छा परिग्रहः । - तत्त्वार्थ सूत्र

जब साधु भी आवश्यकताओं से पूर्णतः मुक्त नहीं हो सकता, तब गृहस्थ उनसे कैसे निवृत्त हो सकता है ? वह अपने परिवार, समाज एवं राष्ट्र से सम्बद्ध है । गृहस्थ अवस्था में रहते हुए वह इनसे अलग नहीं रह सकता । इसलिए वह अपने दायित्व एवं उसके लिए आवश्यक आवश्यकताओं को कैसे भूल सकता है ? अतः वह आवश्यकताओं की पूर्ति तो करता है, परन्तु इच्छाओं को रोकने का प्रयत्न करता है । यही कारण है कि श्रावक के व्रत को 'इच्छा परिमाण व्रत' बतलाया है, 'आवश्यकता परिमाण व्रत' नहीं । इससे यह स्पष्ट होता है कि वस्तु का ग्रहण करना मात्र परिग्रह नहीं है । परिग्रह वस्तु से नहीं, मनुष्य की इच्छा, आकांक्षा एवं ममत्व भावना में है । अतः परिग्रह का अर्थ है- इच्छा, आकांक्षा, तृष्णा एवं ममत्व- मूर्च्छा भावना ।

जैसे अनावश्यक पदार्थ मनुष्य के मन की शान्ति को भंग करते हैं, वैसे निरुपयोगी एवं निम्न स्तर के विचार भी उसकी शान्ति का अपहरण करते हैं। उसके जीवन में विकारों को जन्म देते हैं। अतः साधक को अपने दिमाग को सदा स्वस्थ रखना चाहिए। उसे व्यर्थ के कलह-कदाग्रहों एवं वासनामय विचारों के कूड़े-करकट से नहीं भरना चाहिए। क्योंकि आवश्यक पदार्थ एवं स्वस्थ, सभ्य और ऊँचे विचार ही मनुष्य की सम्पत्ति है।

इच्छाओं का अन्तहीन आकाश

जीवन ससीम है और इच्छाएं, आकांक्षाएँ, कामनाएँ अनन्त हैं, असीम हैं। समुद्र में उठने वाली जल-तरंगों की कोई गणना करना चाहे तो वह नहीं कर सकता। एक जल-तरंग सागर में विलीन होती है और दूसरी तरंग तरंगित हो उठती है। उसकी परम्परा निरन्तर चालू रहती है। इसी तरह यदि कोई व्यक्ति आकाश को नापना चाहे तो उसके लिए ऐसा कर सकना असम्भव है। क्योंकि आकाश अनन्त है, असीम है। वह लोक के आगे भी इतना फैला हुआ है कि जहाँ मनुष्य तो क्या, कोई भी पदार्थ नहीं जा सकता। यही स्थिति इच्छाओं की है।

मनुष्य को सोने-चाँदी के असंख्य पर्वत भी मिल जाएँ, तब भी उसकी इच्छा का, अन्त नहीं आ सकता।

मनुष्य के मन में एक के बाद दूसरी आकांक्षा की तरंग अवतरित होती रहती है। चाहे जितनी आकांक्षाएँ पूरी कर दी जाएँ, फिर भी उनका अन्त नहीं आता है। एक कामना के पूर्ण होते ही दूसरी कामना उदित हो जाती है और उसको पूरा करने का प्रयत्न करो, उसके पूर्व ही तीसरी कामना मन-मस्तिष्क में तरंगित हो उठती है। इसी कारण भगवान् महावीर ने कहा है- "यदि मनुष्य को कैलाश पर्वत के समान सोने-चाँदी के असंख्य पर्वत भी मिल जाएँ, तब भी

उसकी इच्छा का, तृष्णा का अन्त नहीं आ सकता । क्योंकि इच्छा आकाश के समान अनन्त है, असीम है ।"

सुवण्ण-रुपस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलास-समा असंखया ।
नरस्स लुध्दस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगास-समा अणन्तिया ।।

परन्तु आवश्यकताएँ सीमित हैं, और सीमित होने के कारण उनकी पूर्ति भी सहज ही हो जाती है । आवश्यकताओं के लिए मनुष्य को रात-दिन मानसिक-वैचारिक चिन्ता में व्यस्त नहीं रहना पड़ता । चौबीसों घंटे धन का ढ़ेर लगाने की योजनाएँ तैयार करने में ही नहीं लगा रहना पड़ता । अतः आवश्यक पदार्थों में सन्तुष्ट रहने वाला व्यक्ति परिग्रह की सीमा से दूर रहता है । भले ही उसके पास बाह्य साधन कम होते हैं परन्तु सन्तोष एवं शान्ति का धन उसके पास अपरिमित होता है और आचार्य शंकर के शब्दों में- 'वस्तुतः सच्चा धनवान वही है, जिसे सब तरह से सन्तोष है ।' क्योंकि वह धनवान की तरह असन्तोष एवं अशान्ति की आग में नहीं जलता है । वह दूसरों को ठगने की उधेड़-बुन एवं भोले लोगों को किस तरह जाल में फँसा कर या चकमा देकर उनकी जेबें कैसे खाली कराई जाएँ इसके लिए नये-नये आविष्कार एवं प्लान बनाने की चिन्ताओं से मुक्त रहता है । इसलिए वह सब तरह से शान्तिमय जीवन जीता है ।

सच्चा धनवान वही है, जिसे सब तरह से सन्तोष है।

अनावश्यक धन-सम्पत्ति एवं पदार्थों का संग्रह करना ही परिग्रह नहीं है, बल्कि अनावश्यक विचारों का संग्रह करना भी परिग्रह है । गांधीजी ने भी कहा है- "जो मनुष्य अपने दिमाग में निरर्थक ज्ञान ठूँस

रखता है, वह भी परिग्रही है ।" जैसे अनावश्यक पदार्थ मनुष्य के मन की शान्ति को भंग करते हैं, वैसे निरुपयोगी एवं निम्न स्तर के विचार भी उसकी शान्ति का अपहरण करते हैं । उसके जीवन में विकारों को जन्म देते हैं । अतः साधक को अपने दिमाग को सदा स्वस्थ रखना चाहिए । उसे व्यर्थ के कलह-कदाग्रहों एवं वासनामय विचारों के कूड़े-करकट से नहीं भरना चाहिए । क्योंकि आवश्यक पदार्थ एवं स्वस्थ, सभ्य और ऊँचे विचार ही मनुष्य की सम्पत्ति है । अतः इच्छाओं का परित्याग करके आवश्यकताओं को सीमित करना ही वास्तव में सच्ची सम्पत्ति है । क्योंकि इससे सन्तोष-भाव का विकास होता है और यही सच्चा सुख है ।

जो मनुष्य अपने दिमाग में निरर्थक ज्ञान ठूँस रखता है, वह भी परिग्रही है।

Wealth consists in having great possessions, but in having few wants.
- Epictatus

वस्तुतः नरक और स्वर्ग क्या है ? अपने स्वार्थ एवं अपनी तृष्णाओं की आग को अपने दुःखों का कारण न मानकर, उसका दोष दूसरे के सिर पर रखना, यह अज्ञान ही नरक है और सत्य को स्वीकार करके उसे आचरण का रूप देना, यही स्वर्ग है । एक विचारक का कहना है कि 'जब मनुष्य इस बात को स्वीकार कर लेता है कि मेरी समस्त अशान्ति और सब दुःख मेरे अपने ही स्वार्थ के कारण है तो वह स्वर्ग के द्वार से दूर नहीं है ।'

सच्चा सुख और आनन्द

विश्व में संघर्ष एवं अशान्ति का कारण इच्छाएँ हैं। परिवार में जब सदस्यों के मन में अपनी आकांक्षाएँ उदित होती हैं, तो वे उन्हें पूरी करने का प्रयत्न करते हैं। आकांक्षाओं के साथ ही उनके मन में स्वार्थ का उदय भी हो जाता है। परिवार का स्वार्थ, उनके अपने जीवन तक सीमित हो जाता है। जब कि सब की आकांक्षाएँ और सबके स्वार्थ भिन्न होते हैं, परन्तु हर व्यक्ति अपने स्वार्थ को साधना चाहता है।

> *दुनियाँ भर की समस्त अशान्तियों, दुखों, चिन्ताओं एवं आपत्तियों का मूल- स्वार्थ है, तृष्णा है, अतृप्त कामना है।*

हर व्यक्ति का यह प्रयत्न होता है कि वह अपने स्वार्थ को अवश्य ही पूरा करे। यदि उसे पूरा करने के लिए दूसरे के स्वार्थ को कुचलना भी पड़े, तो वह वैसा करने में नहीं हिचकता। इससे उनके स्वार्थ परस्पर टकराते हैं और संघर्ष शुरु हो जाता है। यही स्थिति सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय मंच पर घटित होती है। पारिवारिक संघर्ष से लेकर विश्व-युद्ध तक के संघर्षों का मूल कारण स्वार्थ की भावना एवं अपनी आकांक्षाओं की पूर्ति है। अतः दुनियाँ भर की समस्त अशान्तियों, दुःखों, चिन्ताओं एवं आपत्तियों का मूल- स्वार्थ है, तृष्णा है, अतृप्त कामना है।

दुनियाँ का हर व्यक्ति इस बात को स्वीकार करता है कि स्वार्थ अशान्ति का कारण है । परन्तु आत्म-विनाशी भ्रम एवं अज्ञान के कारण वह स्वार्थ की हंडिया दूसरे के सिर पर फोड़ता है । वह एक ही रट लगाता रहता है कि यह मेरा नहीं, उसका (विरोधी का) स्वार्थ है ।[1] वह भूलकर भी इस सत्य को स्वीकार नहीं करता है कि मेरा स्वार्थ ही मेरे दुःख का कारण है । वह सदा अपने स्वार्थ पर पर्दा डालने का प्रयत्न करता है । यह अज्ञान एवं मिथ्या आकांक्षा उसे अशान्ति के नरक से ऊपर नहीं उठने देता, वह रात-दिन दुःखों के कुंभीपाक में सड़ता रहता है ।

जब मनुष्य इस बात को स्वीकार कर लेता है कि मेरी समस्त अशान्ति और सब दुःख मेरे अपने ही स्वार्थ के कारण है, तो वह स्वर्ग के द्वार से दूर नहीं है।

वस्तुतः नरक और स्वर्ग क्या है ? अपने स्वार्थ एवं अपनी तृष्णाओं की आग को अपने दुःखों का कारण न मानकर, उसका दोष दूसरे के सिर पर रखना यह अज्ञान ही नरक है । और सत्य को स्वीकार करके उसे आचरण का रूप देना, यही स्वर्ग है । एक विचारक का कहना है- "जब मनुष्य इस बात को स्वीकार कर लेता है कि मेरी समस्त अशान्ति और सब दुःख मेरे अपने ही स्वार्थ के कारण है, तो वह स्वर्ग के द्वार से दूर नहीं हैं ।"[2]

---

1. Most people will admit that selfishnen is the cause of all the unhappines in the world, but they fall under the soul destroying delusion that it is somebody else's selfishnen and nor their own. - **James Allen.**

2. When you are willing to admit that all your unhappiness is the result of your own selfishness, you are not far from the gate of paradise. - **Ibid.**

स्वार्थ-साधना नरक है। स्वार्थ-त्याग स्वर्ग है। जब इन्सान अपने ही स्वार्थ को साधने का प्रयत्न करता है, तो वह अपने लिए और अन्य व्यक्तियों के लिए-जो उसके स्वार्थ से सम्बद्ध और प्रभावित हैं, दुःख का कारण बन जाता है। वह उस समय यह भूल जाता है कि मेरी तरह दूसरे के भी अपने स्वार्थ हैं, हित हैं, उनकी सुरक्षा करना मेरा कर्तव्य है। इसी कारण एक विचारक ने कहा है- 'Self is blind, without judgment, not possessed of true knowledge and always leads to suffering.'

स्वार्थ अन्धा होता है। सच्चे ज्ञान एवं यथार्थ निर्णय करने की शक्ति का अभाव होने के कारण वह सदा मनुष्य को दुःखों के सागर में धकेलता है। जब मनुष्य अपने स्वार्थ को भूलकर दूसरे के हित की सुरक्षा में लग जाता है, जब निःस्वार्थ भाव से अपना प्यार दूसरों को देने लगता है, तब उसे सच्चा सुख और आनन्द मिलता है। आनन्द ही नहीं मिलता, बल्कि वह सदा-सर्वदा के लिए अमर हो जाता है।[1] मनुष्य को सर्वश्रेष्ठ एवं सच्चे आनन्द की अनुभूति तब होती है, जब वह दया एवं निःस्वार्थ प्रेम से आप्लावित शब्दों का दूसरे के हित के लिए प्रयोग करता है या दूसरे को

मनुष्य अपने स्वार्थ को भूलकर निस्वार्थ भाव से अपना प्यार दूसरों को देने लगता है, तब उसे सच्चा सुख और आनन्द मिलता है।

1. The heart that bas reached utter self-forgetfulness in its love for others has not only become possessed of the highest happiness, but has entered into immorality, for it has realized the Divine.
- James Allen

2. you will find that the moment of supermost happiness were those in which you uttered some word or performed some act of compassion or self-denying love. **- Ibid**

सुख पहुँचाने के लिए अपने स्वार्थ का, अपनी आकांक्षाओं का त्याग करता है ।[2]

> *वस्तुतः आनन्द पदार्थ को प्राप्त करने में नहीं, बल्कि उसके त्याग करने में है ।*

वस्तुतः आनन्द पदार्थ को प्राप्त करने में नहीं, बल्कि उसका त्याग करने में है । और यही आनन्द का सही मार्ग है, और इसे हम अपरिग्रह भावना कहते हैं । यह भावना जब मूर्त रूप लेती है, तो धरती पर ही स्वर्ग उतर आता है । यह संसार ही स्वर्ग बन जाता है और सम्पूर्ण विश्व में शान्ति का, सुख का और आनन्द का सागर लहराने लगता है ।

More blessed to give than to receive. **- Bible**

मनुष्य धन-वैभव एवं पदार्थों का पूर्णतः त्याग नहीं कर सकता । जैसे समुद्र में चलने वाली नौका पानी का परित्याग नहीं कर सकती । सागर को पार करने के लिए पानी का रहना आवश्यक है । परन्तु यदि जल की कुछ लहरें, पानी का थोड़ा-सा प्रवाह, उसमें भर जाए तो नौका के लिए खतरा हो जाएगा । यही स्थिति जीवन की है । भले ही, सारे संसार की संपत्ति मनुष्य के चरण चूम रही हो, परन्तु यदि उसके मन में, विचारों में, जीवन में आसक्ति का, इच्छा का, ममता-मूर्च्छा का प्रवाह नहीं बह रहा है, तो उसके जीवन के लिए कोई खतरा नहीं है, कोई भय नहीं है ।

आसक्ति पाप है

धन जड़ है । वह अपने आप में न पुण्य है और न पाप । वह एकान्त रूप से परिग्रह भी नहीं है । यदि धन को ही परिग्रह का मापदण्ड मान लिया जाए तो शास्त्रों की परिग्रह सम्बन्धी परिभाषा को ही बदलना पड़ेगा । क्योंकि आगम में धन को नहीं, आसक्ति को परिग्रह कहा है । यदि एक व्यक्ति के पास न तन ढ़कने को पूरा वस्त्र है, न खाने को पूरा भोजन है और न शयन करने के लिए मकान ही है, परन्तु उसके मन में अनन्त इच्छाएँ चक्कर काट रही हैं, पदार्थों के प्रति आसक्ति है, समग्र विश्व पर साम्राज्य करने की अभिलाषा है, तो धन से दरिद्र होने पर भी वह परिग्रही है । इसके विपरीत आसक्ति, मूर्च्छा और इच्छाओं से रहित व्यक्ति के अधीन सारा संसार भी हो, तब भी वह परिग्रही नहीं है । अतः परिग्रह धन-सम्पति में नहीं, मनुष्य के मन में स्थित आसक्ति एवं ममत्व भाव में है ।[1]

आगम के परिग्रह-प्रकरण में एक महत्वपूर्ण शब्द आता है । भगवान् महावीर कहते हैं कि 'आनन्द इच्छा का परिमाण करता है ।'[2] यहाँ धन के, वस्तु के परिमाण का उल्लेख नहीं किया है । वह अपनी

---

1. मूर्च्छा-छन्न-धियां सर्व-जगदेव परिग्रहः ।
   मूर्च्छया रहितानां तु, जगदेवापरिग्रहः ।।
2. इच्छा परिमाणं करेह । - उपासकदशांग सूत्र

इच्छा एवं लालसा को ही समेटता है, जो अनन्त है, असीम है । इच्छा के समेटने पर पदार्थ तो स्वतः ही सीमित हो जाएंगे, क्योंकि पदार्थ पहले ही ससीम है । और जब मनुष्य की इच्छाएँ आवश्यकताओं के रूप में बदल जाती है, तब पदार्थों के अधिक संग्रह का प्रश्न ही नहीं उठता । अतः इच्छाओं को सीमित करना ही अपरिग्रह की ओर कदम बढ़ाना है ।

इच्छाओं को सीमित करना ही अपरिग्रह की ओर कदम बढ़ाना है ।

मनुष्य धन-वैभव एवं पदार्थों का पूर्णतः त्याग नहीं कर सकता । जैसे समुद्र में चलने वाली नौका पानी का परित्याग नहीं कर सकती । सागर को पार करने के लिए पानी का रहना आवश्यक है । उसके नीचे अनन्त जल-कण प्रवहमान रहते हैं । फिर भी उसे तब तक कोई खतरा नहीं रहता, जब तक जल का अनन्त प्रवाह उसके नीचे दबा है । परन्तु यदि जल की कुछ लहरें, पानी का थोड़ा-सा प्रवाह, उसमें भर जाए तो नौका के लिए खतरा हो जाएगा । यही स्थिति जीवन की है । भले ही, सारे संसार की संपत्ति मनुष्य के चरण चूम रही हो, परन्तु यदि उसके मन में, विचारों में, जीवन में आसक्ति का, इच्छा का, ममता-मूर्च्छा का प्रवाह नहीं बह रहा है, तो उसके जीवन के लिए कोई खतरा नहीं है, कोई भय नहीं है । सम्पत्ति का वह महाप्रवाह उसके अपरिग्रह की ओर बढ़ने वाले कदमों को रोक नहीं सकता । अतः धन-सम्पत्ति परिग्रह एवं पाप नहीं अपितु पाप का, परिग्रह का निमित्त बन सकती है । यथार्थ में आसक्ति ही परिग्रह है, आसक्ति ही पाप है और आसक्ति ही संसार परिभ्रमण का कारण है । भले ही, वह आसक्ति धन की हो, पदार्थों की हो, राज्य की हो, पार्टियों की हो, सम्प्रदायों की हो,

साम्प्रदायिक आग्रहों एवं विचारों की हो, साम्प्रदायिक व्यामोह की हो, शिष्य-शिष्याओं की हो या और किसी तरह की हो- सब परिग्रह है, जीवन के लिये बोझ है, भार है, जीवन-नौका को संसार-सागर में डुबाने वाली है ।

अनासक्ति की साधना ही अपरिग्रह की साधना है । अपरिग्रह की ओर कदम बढ़ाने के लिये सबसे पहली शर्त धन-सम्पत्ति के त्याग की नहीं, आसक्ति के त्याग की है । इच्छाओं, आकांक्षाओं पर काबू पाने वाला व्यक्ति ही अपरिग्रह के पथ पर चल सकता है । उसके लिये यह प्रतिबन्ध नहीं है कि वह वस्तु का उपयोग ही न करे । परन्तु वह अपने जीवन में सदा यह विवेक रखे कि आवश्यकता से अधिक किसी वस्तु का उपयोग न करे । मान लो, वर्ष में पाँच सूट पर्याप्त हैं, फिर भी अपनी आकांक्षा की भूख को मिटाने के लिये विभिन्न रंग एवं डिजायन के अनेक सूट इकट्ठे कर रखे हैं और किये जा रहे हैं, तो यह अनावश्यक संग्रह परिग्रह है, पाप है । वस्त्र-पात्र तथा रहन-सहन एवं खान-पान के साधन जीवन के लिये आवश्यक हैं । परन्तु इतना संग्रह न हो, कि वह आवश्यकता की अक्षांश रेखा को ही लांघ जाये । एक ओर आपकी पेटियों में बन्द पड़े वस्त्र दीमकों की खाद्य सामग्री बन रहे हों और दूसरी ओर उनके अभाव के कारण अनेक व्यक्ति सर्दी में ठिठुर रहे हों । एक ओर आप आवश्यकता से अधिक खा-खाकर अजीर्ण एवं अन्य रोगों से पीड़ित हो रहे हों और दूसरी ओर अन्नाभाव से अनेक व्यक्ति मर रहे हों । अपरिग्रही व्यक्ति के लिये इसका विवेक रखना अनिवार्य है । वह ऐसा कोई काम नहीं करेगा कि जिससे परिवार, समाज एवं देश में असमानता, विषमता का विष फैले ।

विषमता एवं संघर्ष की जड़- इच्छा है ।

विषमता एवं संघर्ष की जड़ है- इच्छा । इच्छाओं पर नियन्त्रण न होने के कारण ही मनुष्य आवश्यकता से अधिक संग्रह करता है । वह अपने स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं देख सकता । इसी कारण परिवार, समाज एवं देश में असमानता एवं विषमता की विष बेल पल्लवित-पुष्पित होने लगती है । मानव मन में ईर्ष्या, द्वेष एवं संघर्ष के भाव उद्‌बुद्ध होते हैं और ये विचार ही युद्ध का उग्र रूप धारण करते हैं । इसके उन्मूलन का एक ही उपाय है- इच्छा एवं अनावश्यक संग्रह की भावना का परित्याग कर देना ।

> *अनासक्ति स्वर्ग और मोक्ष का द्वार है और आसक्ति नरक का ।*

अपरिग्रह, विश्व-शान्ति का मूल है । वस्तुतः अपरिग्रह- साधना का प्राण है, जीवन है और परिग्रह मृत्यु । अपरिग्रह- अनासक्ति अमृत है और आसक्ति विष । अनासक्त भावना स्वस्थता है और आसक्त भाव रोग । अनासक्ति धर्म है और आसक्ति पाप । अनासक्ति स्वर्ग और मोक्ष का द्वार है और आसक्ति नरक का, अधःपतन का द्वार और संसार-परिभ्रमण का कारण है ।

प्रत्येक पदार्थ को ग्रहण करते समय अपने विवेक की आँख को खुला रखे । आसक्ति की भावना को अपने मन में न घुसने दें । धन, धान्य, स्वर्ण, चाँदी, जवाहरात, खेत, मकान, दुकान, बैलगाड़ी, घोड़ा, गाय, बैल, भैंस आदि किसी भी वस्तु को आवश्यकता के बिना ग्रहण न करे । जो वस्तु अपने एवं अपने पारिवारिक जीवन के लिए अनावश्यक है, उसका संग्रह करना परिग्रह है, पाप है, और पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय अपराध है तथा अशान्ति का मूल है ।

परिग्रह की सीमाएँ

जीवन और आवश्यकता का चोली-दामन-सा सम्बन्ध है । जब तक जीवन है, तब तक मनुष्य आवश्यकताओं से मुक्त हो नहीं सकता । परन्तु आवश्यकताओं को घटाना-बढ़ाना यह मनुष्य के हाथ में है । यदि मनुष्य के मन में इच्छा, आकांक्षा एवं तृष्णा का प्रवाह बह रहा है, तो उसकी आवश्यकताएँ भूत की चोटी की तरह बढ़ती ही जाएँगी । उसके जीवन का अन्त आ सकता है, परन्तु तृष्णा के रूप में अवतरित आवश्यकताओं एवं कामनाओं का अन्त नहीं आ सकता । वह मनुष्य के जीवन को बर्बाद कर देती है, उसे पतन के महागर्त में गिरा देती है ।

> *जीवन का अन्त आ सकता है, परन्तु तृष्णा के रूप में अवतरित आवश्यकताओं एवं कामनाओं का अन्त नहीं आ सकता ।*

परन्तु जब मनुष्य अपनी इच्छाओं पर नियंत्रण कर लेता है, तब वह अपने जीवन को समेटने लगता है । इच्छा का प्रवाह रुकते ही उसका जीवन सीमित-परिमित बन जाता है । फिर वह उन्हीं पदार्थों को अपने भोगोपभोग में लेता है, जिनके बिना उसका काम नहीं चलता । यदि पाँच जोड़ी वस्त्र से उसका काम चल सकता है, तो वह उससे अधिक वस्त्र का संग्रह करके नहीं रखेगा । भले ही, कितने ही सुन्दर डिजाइन एवं नयी फैशन के वस्त्र भी क्यों न हो,

वह बिना आवश्यकता के उनका संग्रह नहीं करेगा। वह वस्त्र या अन्य किसी भी पदार्थ को उसके डिजाइन, फैशन एवं सौन्दर्य को देखकर ही नहीं खरीदता है, वह उसे आवश्यकता की पूर्ति के लिए खरीदता है। अतः वह अनावश्यक वस्तु का संग्रह नहीं करता और ऐसा करना पाप समझता है।

> *अनावश्यक संग्रह धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से भी पाप है, अपराध है।*

अनावश्यक संग्रह धार्मिक दृष्टि से ही नहीं, सामाजिक एवं राष्ट्रीय दृष्टि से भी पाप है, अपराध है। आज समाज एवं देश में जो विषमता परिलक्षित होती है, उसमें संग्रह-वृत्ति भी उसका एक कारण है। पूँजी-पतियों द्वारा अनाप-शनाप संग्रह करने के कारण बाजार में वस्तुओं की कमी हो जाती है। पदार्थों का आशा से भी अधिक मूल्य बढ़ जाता है। साधारण व्यक्ति आवश्यक पदार्थ भी खरीद नहीं सकते। इससे समाज में, देश में दो वर्ग बन जाते हैं- अमीर और गरीब। जिसे हम आज की भाषा में पूँजीपति और कम्युनिस्ट भी कह सकते हैं। कम्युनिस्ट कहीं बाहर से नहीं आए हैं और न वे आकाश से टपक पड़े हैं। संग्रहखोर मनोवृत्ति ने ही कम्यूनिज्म् (Communism) को जन्म दिया है। जिसका एकमात्र यही ध्येय है कि समाज एवं देश में से विषमता दूर हो। हवा, पानी और सूर्य के प्रकाश की तरह अशन, वसन और निवसन के साधन सबको समान रूप से सुलभ हों।

इसमें किसी भी विचारक के दो मत नहीं है। जैन धर्म भी अनावश्यक संग्रह वृत्ति का विरोध करता है। इसे पाप, अधर्म एवं संघर्ष की जड़ मानता है। भगवान् महावीर का यही उद्‌घोष रहा है- 'जो

व्यक्ति अपने सुख-साधनों का अम्बार लगाता जाता है, अपने संग्रह एवं प्राप्त पदार्थों का केवल अपने लिए ही उपयोग करता है, वह उन पदार्थों का, जिन्हें उनकी आवश्यकता है- समान रूप से वितरण नहीं करता है, तो वह मोक्ष को प्राप्त नहीं कर सकता, वह पूर्ण शान्ति को नहीं पा सकता ।[1] मुक्ति एवं पूर्ण शान्ति भोग में नहीं, त्याग में है । लेने में नहीं, देने में है । संग्रह करने में नहीं, वितरण करने में है । संग्रह के जाल में आबद्ध व्यक्ति कभी भी मुक्ति के द्वार को नहीं खट-खटा सकता ।

> *मुक्ति एवं पूर्ण शान्ति भोग में नहीं, त्याग में है। लेने में नहीं, देने में है। संग्रह करने में नहीं, वितरण करने में है।*

दुनियाँ के प्रत्येक विचारक ने परिग्रह-संग्रह वृत्ति को पाप कहा है । अंग्रेजी के महान् कवि और नाट्य लेखक (Great poet and Dramatist) शेक्सपियर ने स्पष्ट शब्दों में कहा है- 'दुनियाँ में स्थित सब तरह के विषाक्त पदार्थों में मानव की आत्मा के लिए स्वर्ण-धन-संग्रह सबसे भयंकर विष है ।[2] और ईसा (Chirst) का यह उपदेश तो विश्व-प्रसिद्ध है कि सूई के छिद्र में से ऊँट का निकलना सरल है, परन्तु पूँजीपति का मुक्ति को प्राप्त करना कठिन ही नहीं, असम्भव है ।[3] इससे स्पष्ट होता है कि संग्रह वृत्ति सब तरह से अहितकर है । वह स्वयं

---

1. असंविभागी न हु तस्स मोक्खो । - दशवैकालिक सूत्र
2. Gold is worse poison to men's souls than any mortal drug.
   - Shakespeare
3. It is easier for camel to go through the eye of a needle than for a rich man to enter into the Kingdom of God.
   - Bible

व्यक्ति के लिए भी अशान्ति का कारण है और समाज एवं देश की शान्ति को भी नष्ट करने वाली है । यह कहावत नितान्त सत्य है- 'Less coin, less care.' संग्रह (धन) जितना कम होगा, उतनी ही कम चिन्ता होगी । दूसरे शब्दों में यह भी कह सकते हैं कि- 'जिसके पास कम संग्रह होगा, उसके पास उतनी ही अधिक शान्ति होगी ।'[1]

> *जिसके पास कम संग्रह होगा, उसके पास उतनी ही अधिक शान्ति होगी।*

वस्तुतः वह सबसे बड़ा सम्पत्तिशाली है, जो थोड़ी-सी पूँजी अर्थात् आवश्यक पदार्थों में ही सन्तुष्ट रहता है । क्योंकि उसे जड़ पदार्थों का नहीं, अनन्त शान्ति का अनुपम खजाना प्राप्त हो जाता है और शान्ति से बढ़कर दुनियाँ में कोई चीज नहीं है ।

प्रत्येक व्यक्ति शान्ति चाहता है । अतः उसके लिए यह आवश्यक है कि वह संग्रह-वृत्ति का त्याग करे । अपने जीवन को सीमित एवं सादा बनाए । श्रावक-गृहस्थ के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी इच्छाओं को सीमा से बाहर न जाने दें । वह प्रत्येक पदार्थ को ग्रहण करते समय अपने विवेक की आँख को खुला रखे । आसक्ति की भावना को अपने मन में न घुसने दे । उसके लिए यह स्पष्ट है कि धन-धान्य, स्वर्ण, चाँदी, जवाहरात, खेत, मकान, दुकान, बैलगाड़ी, घोड़ा, गाय, बैल, भैंस आदि किसी भी वस्तु को आवश्यकता के बिना ग्रहण न करे । जो वस्तु अपने एवं अपने पारिवारिक जीवन के लिए अनावश्यक है, उसका संग्रह करना परिग्रह है, पाप है, और पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय अपराध है, अशान्ति का मूल है । अतः श्रावक का यह प्रमुख कर्तव्य है

1. He is the richest who is contents with the least. - Socrates

कि वह इच्छा, आकांक्षा का परिमाण करे, आसक्ति एवं ममत्व-भावना का परित्याग करने का प्रयत्न करे और अपनी आवश्यकताओं को घटाने का प्रयत्न करे । इच्छा-परिमाण की भावना एवं तदनुरूप किया जाने वाला प्रयत्न अपरिग्रह है, धर्म है और मुक्ति का मार्ग है ।

तुझे आगे जाना है, बहुत आगे जाना है, इतना आगे जाना है, कि जहाँ राह ही समाप्त हो जाती है। तूने जो कुटुम्ब-परिवार पा लिया है, उसी का उत्तरदायित्व तेरे लिए नहीं है। तेरी यात्रा उस छोटे से घेरे से निकल कर अपने आपको विशाल संसार में घुला-मिला देने की है। यही आत्मा के विराट् स्वरूप की प्राप्ति है। जब मनुष्य क्षुद्र से विराट् बन जाता है, तो उसके मानस-सरोवर में उठने वाली अहिंसा और प्रेम की लहरों से समग्र संसार परिव्याप्त हो जाता है।

आवश्यकताएँ और इच्छाएँ

मनुष्य जब तक संसार में रहता है, तब तक उसे जीवन की आवश्यकताएँ घेरे रहती हैं। जीवन को कायम और सक्रिय रखने के लिए उसे कुछ न कुछ चाहिए ही। यह सम्भव नहीं कि शरीर कायम भी रहे और उसकी आवश्यकताएँ न हों।

मगर एक बात हमें ध्यान में रखनी चाहिए। बहुत बार मनुष्य अपनी इच्छा, हविस या अपनी आसक्ति को ही अपनी आवश्यकता मान बैठता है। यदि वह उनकी पूर्ति के प्रयत्न में लग जाता है, तो अपनी सारी शक्तियों को उन्हीं को समर्पित कर देता है। वह ज्यों-ज्यों अपनी हवस को पूरा करता जाता है, नयी-नयी हवस उसके मन में पैदा होती जाती है। एक इच्छा पूरी हुई नहीं कि अन्य अनेक नवीन इच्छाएँ उत्पन्न हो गयीं। तो प्रश्न होता कि अब वह अपनी किस-किस इच्छा की पूर्ति करे और किस-किस की नहीं ? और वह इसी प्रश्न में उलझ जाता है। अन्त में वह यही तय करता है कि उसे अपने सभी इच्छाओं की पूर्ति करनी है और परिणाम यह होता है कि वह अपनी सारी जिन्दगी अपनी इच्छाओं की पूर्ति में ही समाप्त कर देता है। जिन्दगी समाप्त हो जाती है परन्तु इच्छाएँ समाप्त

> *जिन्दगी समाप्त हो जाती है परन्तु इच्छाएँ समाप्त नहीं होती।*

नहीं होती । इस प्रकार अधिकांश मनुष्य अपने मूल्यवान् जीवन को यूं ही बर्बाद कर देते हैं । और यह सब कुछ आज अपने विराट् रूप में सर्वत्र दिखाई दे रहा है !

अतएव हमें समझ लेना चाहिए कि आवश्यकता अलग है और इच्छा या आसक्ति अलग । आज संसार में जो भी संघर्ष हैं, वे आवश्यकता और इच्छा के अन्तर को न समझने के कारण ही उत्पन्न हुए हैं ।

यह ठीक है कि जहाँ तक आवश्यकताओं का प्रश्न है, मन समाधान चाहता है । यदि मनुष्य उसका समाधान नहीं करता है, तो वह दुनियाँ के मैदान में टिक नहीं सकता है । तो इस रूप में, जहाँ तक आवश्यकताओं का प्रश्न है, कोई भी धर्म इस दिशा में इन्सान के हाथ-पैर नही पकड़ेगा; और न कोई पकड़ने की कोशिश ही करेगा । अगर करेगा तो, वह सफल नहीं होगा । किन्तु इच्छाओं को ही आवश्यकता समझ लिया गया, तो मनुष्य, मनुष्य नहीं रह जायगा । वह अपने जीवन को भी नष्ट करेगा और दूसरों के जीवन को भी ! फिर वह तो दैत्य के रूप में संहार करना शुरु कर देगा ! अतएव सभी धर्मों ने इच्छा और आवश्यकता के अन्तर को समझने पर बल दिया है । अतः इच्छाओं को समझना आवश्यक है ।

जैन धर्म ने बुराइयों को धोने के लिए ज्ञान का निर्मल जल दिया है।

जैन-धर्म निवृत्ति-प्रधान धर्म है । उसकी साधना बहुत बड़ी है और उसने बुराइयों को धोने के लिए ज्ञान का निर्मल जल दिया है । किन्तु हमें

जानना चाहिए कि जैन धर्म आदर्शवादी भी है और यथार्थवादी भी। जीवन के लिए दोनों सिद्धान्त उपयोगी रहे हैं।

जैन धर्म का आदर्शवाद यह है कि वह हमारे समक्ष एक महान् जीवन का चित्र उपस्थित करता है। वह साधक को दौड़ने के लिए कह रहा है और कह रहा है कि जहाँ तू है, केवल वहीं तू नहीं है। आज जहाँ तेरी स्थिति है, वही तेरी मंजिल नहीं है, तुझे आगे जाना है, बहुत आगे जाना है, इतने आगे जाना है कि जहाँ राह ही समाप्त हो जाती है। तूने जो कुटुम्ब-परिवार पा लिया है, उसी का उत्तरदायित्व तेरे लिए नहीं है। तेरी यात्रा वहीं तक सीमित नहीं है। तेरी यात्रा बहुत लम्बी है। तेरी यात्रा उस छोटे से घेरे से निकल कर अपने आपको विशाल संसार में घुला-मिला देने की है। यही आत्मा के विराट् स्वरूप की प्राप्ति है। जब मनुष्य इतना विशाल और इतना महान् बन जाता है कि सारे संसार में घुल-मिल जाता है, क्षुद्र से विराट् बन जाता है, और उसके मानस-सरोवर में उठने वाली अहिंसा और प्रेम की लहरों से समग्र संसार परिव्याप्त हो जाता है, तब उसमें भगवत्स्वरूप जाग जाता है। जिसे उस भगवत्स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है, उसे हम अर्हत् या ईश्वर के रूप में पूजने लगते हैं। यह जैनधर्म का आदर्शवाद है और बहुत ऊँचा आदर्शवाद है। विगत काल के विकारों को जीतना ही हमारा आदर्श है।

> *कल्पना के आकाश में तीव्र वेग से उड़ने वाले की अपेक्षा, धरती पर चार कदम चलने वाला कहीं अधिक अच्छा है।*

किन्तु जैन धर्म कोरा आदर्शवादी नहीं, यथार्थवादी भी है। कोरा आदर्शवाद खयाल ही खयाल होता है।

वह प्रेरणा चाहे दे सके, प्रगति नहीं दे सकता । संसार में कोरी कल्पनाओं से काम नहीं चलता । कल्पना के आकाश में तीव्र वेग से उड़ने वाले की अपेक्षा, धरती पर चार कदम चलने वाला कहीं अधिक अच्छा है । वह थोड़ा चला है, पर वास्तव में चला तो है । हाँ आदर्शवाद भी जीवन में आवश्यक है और उसके अभाव में गति का कोई लक्ष्य और उद्देश्य ही नहीं रह जाता, किन्तु यथार्थता को भूला देने पर आदर्शवाद बेकार हो जाता है ।

तो आदर्श के आधार पे, जहाँ मनुष्य के पैर टिके हैं, उस जमीन को भी हमें नहीं भूलना है । आँखों की धारा तो बहुत दूर तक बहती है, किन्तु आँखों में और पैरों में अन्तर रहता है । यह नहीं हो सकता, कि जहाँ आँखें हैं, वहीं पैर भी लग जाएँ । जीवन की जो दौड़ है, उसको कदम-कदम करके पूरा करना पड़ता है । आँखें तो बहुत दूर पर अवस्थित पहाड़ की ऊँची चोटी को, पल भर की देर किये बिना ही देख लेती हैं, और मन कह देता है कि हमें वहाँ पहुँचना है; परन्तु पैर तो आँख या मन के साथ दौड़ नहीं लगा सकते । उन्हें तो कदम-कदम करके ही चलना पड़ेगा ।

अतएव जैन धर्म आदर्शवाद और यथार्थवाद का समन्वय करता है और कहता है कि जब तक मनुष्य गृहस्थ-अवस्था में है, तब तक उसके साथ अपना परिवार भी है, समाज भी है और राष्ट्र भी है । इन सब को छोड़ कर वह अलग नहीं रह सकता है । जब अलग नहीं रह सकता है, तब इन सब की आवश्यकताओं को भी नहीं भूल सकता है । अगर वह भूल जाएगा, तो अपने आपको ही भूल जाएगा । अतएव गृहस्थ अपनी आवश्यकताओं की उपेक्षा नहीं कर सकता । उनकी पूर्ति होनी चाहिए ।

इसी कारण धर्मशास्त्र ने 'इच्छा-परिमाण' का व्रत बतलाया है, 'आवश्यकता-परिमाण' का व्रत नहीं बतलाया। आवश्यकताएँ तो आवश्यकताएँ ही है; और किसी भी आवश्यकता को भूला नहीं जा सकता- छोड़ देना तो असम्भव-सा है। वास्तव में वह आवश्यकता ही नहीं, जो छोड़ी जा सके। जो भूली जा सके। यह तो इच्छा ही होती है, जो त्यागी जा सकती है।

मनुष्य की इच्छाएँ जब आगे बढ़ती हैं, तब अनेक नयी कल्पनाएँ जाग उठती हैं। उन कल्पनाओं के कारण कुछ इच्छाएँ, आवश्यकताओं का रूप धारण कर मनुष्य के जीवन में ठहर जाती हैं। क्योंकि उन इच्छाओं को आवश्यकता समझ लिया जाता है, तो जीवन गलत रूप धारण कर लेता है। अतएव जैनधर्म कहता है कि ऐसी इच्छाओं को, जो तुम्हारी आवश्यकताओं से मेल नहीं खातीं और आगे से आगे बढ़ती जाती हैं, काट दो, समाप्त कर दो। जो अपनी इच्छाओं को, आवश्यकताओं तक ही सीमित रखता है, उसका गृहस्थ जीवन सन्तोषमय और सुखमय बनता है। वस्तुतः वही साधना का पात्र बनता है। इसके विपरीत जो अपनी आकांक्षाओं और इच्छाओं को नियन्त्रित नहीं करता, उसका जीवन उस गाड़ी के समान है, जिसमें ब्रेक न हो। ऐसी गाड़ी खतरनाक होती है। वच जीवन की गाड़ी में भी ब्रेक का होना अत्यन्त आवश्यक है- अन्यथा वह ब्रेक-रहित गाड़ी के समान ही अन्धी दौड़ दौड़ेगा, और उसी तरह दूसरों को भी कुचलेगा और स्वयं भी चकनाचूर हो जायेगा।

जो अपनी इच्छाओं को, आवश्यकताओं तक ही सीमित रखता है, उसका गृहस्थ जीवन सन्तोषमय और सुखमय बनता है।

जैन धर्म कहता है कि जीवन की गाड़ी को चलाना तो है, किन्तु उस पर अंकुश रख कर ही चलाना होगा। जहाँ तक आवश्यकता है, उसे वहीं तक ले जाए तो ठीक है। मगर उससे आगे ले जाना खतरनाक और गलत है। अगर कहीं तुम्हारे स्वार्थ से दूसरे का स्वार्थ टकरा रहा हो, तो अपने ही स्वार्थ को मत देखो। दूसरे की आवश्यकताओं का भी आदर करो। चलाओगे, तो हजारों गाड़ियाँ चलती रहेंगी, कोई टक्कर नहीं होगी। यदि इस रूप में नहीं चलोगे, तो टक्कर लगना अवश्यम्भावी है, और जहाँ दूसरों की गाड़ी चकनाचूर होगी, वहीं तुम्हारी गाड़ी भी चूर-चूर हो सकती है।

> *अगर कहीं तुम्हारे स्वार्थ से दूसरे का स्वार्थ टकरा रहा हो, तो अपने ही स्वार्थ को मत देखो। दूसरे की आवश्यकताओं का भी आदर करो।*

यही अपरिग्रह-व्रत का आदर्श है। जहाँ तक जीवन की आवश्यकता का प्रश्न है, परिग्रह का महत्व समझा जा सकता है, किन्तु उसके आगे परिग्रह चले तो उस पर अंकुश लगा दो, फिर वह परिग्रह भी एक दृष्टि से अपरिग्रह हो जाता है।

इस रूप में आनन्द गाथापति ने अपनी इच्छाओं का परिमाण किया तो उसकी समस्या हल हो गई। उसने जो सम्पत्ति प्राप्त कर ली थी, उसमें बढ़ोत्तरी नहीं की। उसके पास बहुत संचय था। अतएव उसने और संचय करना पूर्णतः बन्द कर दिया। उसने अपनी इच्छा और ममता पर अंकुश लगा दिया कि मेरे पास जो धन-सम्पत्ति है, उसे न अधिक बढ़ाऊँगा और न उससे अधिक रखूँगा ही। और इस रूप में

इच्छा-परिमाण का महान् रूप उसके जीवन में उतरा । अपनी इच्छाओं को परिमित कर लिया ।

आज दुनियाँ में जो संघर्ष है, वह संघर्ष आज से ही नहीं है अनन्त-अनन्त काल से चला आ रहा है । अगर उसके मूल को खोजने चलें, तो पता लगेगा कि इच्छाओं की बहुलता ही उसका प्रधान कारण है । संसार में जो महायुद्ध हुए हैं, सम्भव है उनके कुछ कारण और भी हों, परन्तु प्रधान कारण तो मनुष्य की असीम इच्छाएँ ही हैं ।

मनुष्य की इच्छाओं के असीमित रूप ने लाखों और करोड़ों मनुष्यों का रक्त बहाया है । जब मनुष्य ने आवश्यकता से अधिक पैर फैलाने की कोशिश की, तभी संघर्ष का बीजारोपण हुआ और जब पैर फैलाये तो संघर्ष शुरु हो गया । जिनके पास थोड़े साधन हैं और थोड़ी शक्ति है, उनका संघर्ष भी छोटे पैमाने पर होता है और उसका दायरा भी सीमित होता है । किन्तु जो शक्तिशाली है, उनका संघर्ष सीमा को लाँघ जाता है और कभी-कभी वह विश्वव्यापी रूप भी धारण कर लेता है । महाभारत का युद्ध क्यों हुआ ? जिस युद्ध की विकराल ज्वालाओं में भारत के चुनिंदा योद्धा पतंगों की तरह भस्म हो गए, जिसने भारत में घोर अन्धकार फैला दिया, जिसकी बदौलत देश श्मशान बन गया और शताब्दियों पर शताब्दियाँ बीत जाने पर भी न संभल सका और जिस युद्ध की ज्वालाओं में भारत की संस्कृति, वीरता, ओज और तेज सभी कुछ भस्म हो गया, उस भीषण युद्ध का कारण इच्छाओं का असीमित रूप ही तो था ।

मनुष्य की इच्छाओं के असीमित रूप ने लाखों और करोड़ों मनुष्यों का रक्त बहाया है ।

दो भाई अपने जीवन को बँटवारा करके चलाएँ और आने वाली पीढ़ियों से यह भी न कहें कि वे अपने पुरुषार्थ से अपने जीवन की आवश्यकताओं को पूर्ण करें, जीवन की कला की सहायता से अपने जीवन का निर्माण और उत्थान करें, तथा ठीक इसके विपरीत वे उनके लिए बड़े-बड़े महल छोड़ कर चले जाएँ । तो वे पीढ़ियाँ उन ईटों को ही देखेंगी, और पुराने महलों की गिरती हुई ईटें उनका सिर फोड़ती रहेगी ।

पाण्डवों और कौरवों के धन का बँटवारा हो गया तो दुर्योधन के मन में आया कि पाण्डवों के सोने के महल क्यों खड़े हैं ? वे प्रगति कर रहे हैं ? पाण्डवों को एक छोटा-सा राज्य मिला था, पर उन्होंने अपनी शक्ति से बहुत बड़ा साम्राज्य बना लिया है । और मुझे जो साम्राज्य मिला था, वह ज्यों का त्यों पड़ा है । वह तनिक भी नहीं बढ़ सका ।

> *जब वस्तु को बढ़ाने की कला, किसी के पास नहीं होती, तो वे छीना-झपटी करने पर ही उतारु हो जाते हैं।*

वास्तव में जब वस्तु को बढ़ाने की कला, किसी के पास नहीं होती, तो वे छीना-झपटी करने पर ही उतारु हो जाते हैं । सोचते हैं भाई की सम्पत्ति को छीन कर अपने कब्जे में कर लूँ । मगर यह ठीक तरीका नहीं है । मनुष्य की अगर कोई वास्तविक आवश्यकता भी है, तो उसकी पूर्ति का यह ढ़ंग नहीं हो सकता । एक आदमी नंगा है । वह दूसरों के वस्त्र छीन ले तो पहले के बदले दूसरा नंगा हो जायेगा । एक भूखा है और दूसरे के पास रोटी है, और भूखा उससे रोटी छीन लेता है तो दूसरा भूखा रह जायेगा । जब तक वस्तु

परिमित है और उसका नवीन उत्पादन नहीं हो रहा है और उपभोक्ता अधिक हैं, तब तक समस्या कैसे हल होगी ? तो, मैं कह रहा हूँ कि छीना-झपटी समस्या का कोई स्थायी और सही हल नहीं है ।

छीना-झपटी समस्या का कोई स्थायी और सही हल नहीं है ।

दुर्भाग्य से भारतवर्ष में उत्पादन करने पर ध्यान नहीं दिया जाता है । संघर्ष से लड़ा नहीं जाता है, और अपने हाथों जीवन-निर्माण करने की कला नहीं सिखाई जाती है । यह कला सिखाई गई होती, तो जो सम्पत्ति प्राप्त की जाती, वह सम्पत्ति खुद की न बन कर परिवार की, समाज की या राष्ट्र की होती ।

दुर्योधन ने उपार्जन करने की कला सीखी नहीं और सीखने का प्रयत्न भी किया नहीं, तो उसने अपने भाइयों का साम्राज्य छीन लिया । इस प्रकार परिग्रह में से जुआ, अन्याय और अत्याचार उभर कर आया । और उसका परिणाम कितना भयंकर हुआ । युद्ध का परिणाम होता है, विनाश ।

कृष्ण, दुर्योधन के पास जाते हैं और एक दूत के रूप में खड़े हो जाते हैं । कृष्ण कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे । वे संसार के महान् नायक थे और उनकी भृकुटी से संसार में भूकम्प आ सकता था । वे अपनी मान-मर्यादा की परवाह न करके एक साधारण व्यक्ति की तरह, दूत के रूप में जाकर खड़े हो जाते हैं, और भिक्षा के लिए पल्ला पसार देते हैं ।

मैं समझता हूँ, समय-समय पर अनेक राजनीतिज्ञों ने अनेक भाषण दिये हैं, पर कृष्ण का वह भाषण एकदम अनूठा था । वह इतिहास

में आज तक सुरक्षित है, और इतना महान् है, कि प्रत्येक राजनीतिज्ञ के लिए पढ़ने और गुनने की चीज है ।

जीवन को कैसे चलाना है, और कैसा बनाना है ? इस सम्बन्ध में कृष्ण ने अपने उस भाषण में बहुत कुछ कहा है । वे कहते हैं- "मैं चाहता हूँ कि पाण्डव भी सुरक्षित रहे और दुर्योधन भी सुरक्षित रहे और कौरवों का जीवन भी महान् बने । यह सोने के महल गिरने के लिये नहीं हैं । अगर मेरी बात पर कान न दिया गया और रक्त की नदियाँ बहीं, जीवन में ही भाई से भाई जुदा हुए, आपस में एक-दूसरे के गले काटे गए, तो मैं समझता हूँ कि जितना उनका खून बहेगा, उससे अधिक मेरी आँखों से आँसू बहेंगे । दुर्योधन! यदि तुम पाण्डवों को ज्यादा नहीं दे सकते हो, तो केवल पाँच गाँव ही दे दो । पाँच गाँवों से भी पाँच-पाण्डव अपना जीवन चला लेंगे ।"

संसार में कभी-कभी ऐसी घटनाएँ भी देखने में आती हैं ! जिस साम्राज्य को बढ़ाने के लिए पाण्डवों ने दुनियाँ भर से टक्करें ली थीं, और तब कहीं वह साम्राज्य बन पाया था, आज वे उसी साम्राज्य में से पाँच ही गाँव लेने की तैयार हैं । वे इतने से ही अपना काम चला लेंगे, अपना जीवन निभा लेंगे और उन्हें ज्यादा कुछ नहीं चाहिए ।

इस प्रकार एक तरफ इच्छाओं को रोकने की सीमा आ गई । जो पाण्डव सोने के महलों में रहते थे, वे आज झोंपड़ी में रहने को तैयार हो गए । और दूसरी तरफ वे असीमित इच्छाएँ हैं कि अपना साम्राज्य तो था ही, दूसरों का भी साम्राज्य मिल गया फिर भी उन इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो पाई !

वास्तव में परिग्रह का भूत जब जिसके सिर पर सवार हो जाता

है तो उसे बावला ही बनाकर छोड़ता है । वह चारों ओर से मनुष्य को पकड़े रहता है, वह मनुष्य के किसी भी अंग को खाली नहीं छोड़ता । क्या मजाल कि परिग्रह के भूत से ग्रस्त मनुष्य, मन से या वाणी से उसके विरुद्ध कोई हरकत कर सके, कुछ ले सके या कुछ दे सके । इस प्रकार जीवन का कोई भी अंग उसकी पकड़ से खाली नहीं रहता, और इस रूप में मनुष्य का सारा जीवन जड़ बन जाता है ।

दुर्योधन के सिर पर परिग्रह का ज़बरदस्त भूत सवार था । पाण्डवों के लिए कृष्ण की उस छोटी-सी-मांग के उत्तर में दुर्योधन ने कहा- **सूच्यग्रं नैव दास्यामि, विना युध्देन केशव !** "हे केशव ! तुम तो पाँच गाँवों की बात कहते हो, न जाने वे कितने बड़े होंगे, परन्तु मैं तो सुई की नोंक के बराबर जमीन भी युद्ध के बिना पाण्डवों को नहीं दे सकता ।"

आसक्ति ही विनाश का कारण बनती है ।

दुनियाँ भर के सम्राट् रहे, सोने के महलों में रहने वाले रहे हैं और खजाने में साँप बन कर रहे हैं, उनकी भी यही अन्तर्ध्वनि रही है कि हम तो साँप हैं, हम अपने आप तो देने से रहे, हाँ, मार कर ले जा सकते हो । जब तक जिन्दा हैं, तब तक नहीं देंगे, समाप्त करके कोई भले ले जाय । यही दुर्योधन ने कहा । आसक्ति ही विनाश का कारण बनती है ।

दुर्योधन की इसी वृत्ति के परिणामस्वरूप इतना बड़ा महाभारत हुआ और रक्त की नदियाँ बह निकली । तो दुर्योधन की परिग्रह की जो वृत्ति है, कुछ भी न देने की जो भावना है, और जो कुछ पाया है, उस

पर साँप बन कर बैठने की जो इच्छा है, लाखों वर्षों से इन्सान उसी के चक्कर में पड़ा हुआ है ।

श्रेणिक तथा कोणिक के इतिहास की ओर दृष्टि दौड़ाइए । पिता और पुत्र के बीच कितने मधुर सम्बन्ध होने चाहिए ? पिता अपने पुत्र के लिए क्या कामनाएँ और भावनाएँ रखता है ? संसार भर में दो ही जगहें है जहाँ इन्सान अपने आपको पीछे रखने की और दूसरे को आगे बढ़ाने की कला में हर्ष से झूम जाता है । हमारे यहाँ कहा है -

पुत्रादिच्छेत्पराजयम् । शिष्यादिच्छेत्पराजयम् ।

एक सांसारिक क्षेत्र है और दूसरा धार्मिक क्षेत्र है । सांसारिक क्षेत्र में पिता और पुत्र खड़े हैं और आध्यात्मिक क्षेत्र में गुरु और शिष्य । गुरु अपने शिष्य को आगे बढ़ता देखना चाहता है । जितना उसने अध्ययन किया है, उससे शिष्य अगर आगे बढ़ जाता है तो गुरु हर्ष से विभोर हो जाता है । शिष्य की बढ़ती हुई प्रतिष्ठा में चार चाँद लगाने के लिए ही वह अपने मन और वचन से लग जाता है । शिष्य की प्रतिष्ठा-वृद्धि में गुरु अपनी प्रतिष्ठा मानता है, अपने लिए गौरव की बात समझता है, अपने जीवन की सफलता समझता है ।

और सांसारिक क्षेत्र में, पिता-पुत्र में, यह भावना और भी अधिक गहरी देखी जाती है । मनुष्य क्यों कमा रहा है ? उससे पूछो तो वह अपने आपको भी अलग समेट लेता है और कहता है- मैं जो कुछ भी कर रहा हूँ, अपने बाल-बच्चों के लिए कर रहा हूँ । मतलब यह है कि उसने अपना अस्तित्व मिटा लिया है और अपने अस्तित्व को अपने बाल-बच्चों में ही बिखेर दिया है । इस प्रकार वह अपनी समस्त शक्तियों का प्रयोग करता है और अपने आपको मिटा लेता है । पिता झोंपड़ी में

रहता है और पुत्र ने यदि सोने का महल बनवा लिया है, तो भी उसे ईर्ष्या नहीं होती, उसे बुरा नहीं लगता। वह पड़ौसी का सोने का महल देखकर भले ही सहन न कर सके, उसके निर्माण में विघ्न भी डाले, पर पुत्र का सोने का महल देखकर अतिशय आनन्द का ही अनुभव करता है।

पुत्र के मन में भी यही बात रहती है। वह जानता है, पिता जो कुछ भी कर रहा है, वह दुनियाँ के लिए नहीं कर रहा है, किसी गैर के लिए नहीं कर रहा है। आखिर पिता को जो भी मिल रहा है, वह आगे चलकर पुत्र को ही तो मिलना है।

> *जहाँ कहीं भी परिग्रह की वृत्ति बढ़ी और इच्छाओं का निरंकुश प्रसार हुआ कि वहाँ अमृत भी विष बन गया।*

इस रूप में, भारत में, पिता-पुत्र के बीच, बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रहे हैं। इतने घनिष्ठ कि इससे अधिक घनिष्ठता अन्यत्र कहीं भी दुर्लभ है। किन्तु धन्य रे परिग्रह! इस परिग्रह ने अमृत को भी विष बना दिया। जहाँ कहीं भी परिग्रह की वृत्ति बढ़ी और इच्छाओं का निरंकुश प्रसार हुआ कि वहाँ अमृत भी विष बन गया, उस माधुर्य में भी कटुता पैदा हो गई और संहार मच गया। परिग्रह समस्त पापों की जड़ है।

अब श्रेणिक और कोणिक की बात सुनिए- पिता श्रेणिक वृद्ध हो गए हैं, और पुत्र कोणिक जवान है, वह कुढ़ रहा है। राज्य करने की लालसा उसके मन में जाग उठी है, वह चाहता है कि सिंहासन जल्दी खाली हो। वह सोचता है, दुर्भाग्य है कि पिता नहीं मर रहे हैं।

उन्हें अब मर जाना चाहिए ! अब राज्य मैं करूँगा । स्वार्थ मनुष्य को अन्धा बना देता है ।

> *स्वार्थ मनुष्य को अन्धा बना देता है।*

राजा श्रेणिक के जीवन की अन्तिम घड़ियाँ चल रही हैं । बहुत जीएँगे तो वर्ष, दो वर्ष जी लेंगे । आखिर कहाँ तक जीएँगे ? और तब कोणिक को ही वह सिंहासन मिलने वाला है । इसमें कोई सन्देह नहीं है, कोई खतरा भी नहीं । वही उनका उत्तराधिकारी है । मगर कोणिक समय से पहले ही उसे खाली कराने का स्वप्न देख रहा है और शीघ्र से शीघ्र उस पर आसीन होने के मन्सूबे बना रहा है ।

कोणिक को क्यों इतनी उतावली है ? ऐसा तो नहीं कि वह भूखा मर रहा है, नंगा रह रहा है या नंगे पैरों चल रहा है । साम्राज्य का सारा वैभव उसी का वैभव है और उसका वह मनाचाहा उपभोग कर सकता है । उसे कोई रोक-टोक नहीं है । उसके जीवन की जितनी आवश्यकताएँ हैं, वे सब की सब पूरी हो रही हैं, और वह ऐसी स्थिति में है कि चाहे तो हजारों का पालन-पोषण कर सकता है । ऐसा भी नहीं है कि बूढ़े श्रेणिक ने ही अपनी मुट्ठियों में सब कुछ बन्द कर रखा हो और कोणिक के हाथ में कुछ भी न हो । साम्राज्य उसके हाथ में है और हुकूमत उसके हाथ में है । श्रेणिक तो उस समय नाम मात्र के राजा थे और घड़ी-दो-घड़ी सिंहासन पर बैठ जाते थे ।

किन्तु इच्छाओं ने कोणिक को घेरना शुरु किया और चाहा कि जल्दी से जल्दी हमारे लिए सिंहासन खाली होना चाहिए । पिता न दीक्षा लेते हैं, और न मरते ही हैं । तीर्थंकर भगवान् की वाणी सुनते-सुनते

हिंसा का जन्म परिग्रह से होता है।

निरंकुश इच्छाएँ कभी तृप्त नहीं होती। संसार का वैभव तृष्णा की आग के लिए घी का काम देता है। वह उस आग को बुझाता नहीं, बढ़ाता है।

बाल पक गये हैं, मगर सिंहासन नहीं त्याग रहे हैं। नहीं त्याग रहे हैं तो त्याग करा देना चाहिए, नहीं मर रहे हैं तो मार देना चाहिए। इसके अतिरिक्त और उपाय ही क्या है ? हिंसा का जन्म परिग्रह से होता है।

बस, कोणिक निरंकुश इच्छाओं का शिकार होता है और षड्यन्त्र रचकर पिता को कैदखाने में डाल देता है।

मगध का विख्यात सम्राट् श्रेणिक अब कैदी के रूप में अपनी जिन्दगी के दिन गिन रहा है। एक दिन वह उस दशा में था कि जब भगवान् महावीर के समवसरण में धर्मोपदेश सुनने जाता था तो सड़कों पर हीरे और मोती लुटाता जाता था। आज जीवन की अन्तिम घड़ियों में वही प्रभावशाली सम्राट् कैदी बना हुआ, पिंजरे में बन्द है।

पुत्र ने पिता को कैद करके कारागार में डाल दिया और आप सम्राट् बन बैठा। पर उसका परिणाम क्या निकला ? क्या कोणिक की इच्छाएँ तृप्त हो गयीं ? उसे सन्तोष मिल गया ? नहीं। निरंकुश इच्छाएँ कभी तृप्त नहीं होती। संसार का वैभव तृष्णा की आग के लिए घी का काम देता है। वह उस आग को बुझाता नहीं, बढ़ाता है। इसीलिए तो शास्त्रकार कहते हैं–

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ। – उत्तराध्ययन सूत्र

ज्यों-ज्यों धन-सम्पत्ति और वैभव की प्राप्ति होती जाती है, त्यों-त्यों मनुष्य का लोभ भी बढ़ता ही चला जाता है। लाभ से लोभ का उपशमन नहीं होता, वर्द्धन ही होता है। ऐसा क्यों होता है ? शास्त्र में इस प्रश्न का उत्तर भी दिया गया है- **इच्छा हु आगाससमा अणंतिया।**

ज्यों-ज्यों धन-सम्पत्ति और वैभव की प्राप्ति होती जाती है, त्यों-त्यों मनुष्य का लोभ भी बढ़ता ही चला जाता है। लाभ से लोभ का उपशमन नहीं होता, वर्द्धन ही होता है।

जैसे आकाश का कहीं ओर-छोर नहीं है, कहीं समाप्ति नहीं है, वह सभी ओर से अनन्त है, उसी प्रकार इच्छाएँ भी अनन्त हैं। सहस्राधिपति, लखपति बनने की सोचता है, लखपति करोड़पति बनने के मन्सूबे करता है, और करोड़पति अरबपति बनने के सपने देखता है। राजा, महाराजा बनना चाहता है, महाराजा सम्राट् होने का गौरव प्राप्त करना चाहता है। और एक सम्राट् दूसरे सम्राट् को अपने पैरों पर झुकाना चाहता है। इस स्थिति में विराम कहाँ, विश्राम कहाँ ? तृप्ति कहाँ ? तृप्ति अक्षय कोष में नहीं, तोष में है।

मगर दुनियाँ के साधारण लोगों की तरह कोणिक ने भी इस तथ्य को नहीं समझा था। वह सम्राट् बनकर भी तृप्त नहीं हो सका। उसने अपने पिता को कैद करके कारागार में डाल दिया और सिंहासन पर कब्जा कर लिया। इसके बाद उसकी निगाह अपने भाइयों की तरफ दौड़ी। उनके पास क्या था ? मनोरंजन के लिए हार था और हाथी था। मगध के विशाल साम्राज्य की तुलना में हार और हाथी का क्या मूल्य ?

कहा जा सकता है कि अपने भाइयों का हार और हाथी लेने की इच्छा अपने आप कोणिक के मन में उत्पन्न नहीं हुई थी। वह तो उसकी पत्नी के द्वारा उत्पन्न की गई थी; मगर चाहे कोई स्वयं आग में कूद पड़े या किसी के कहने से आग में कूदे, नतीजा तो एक समान ही होगा। हर हालत में उसे झुलसना पड़ेगा। हार और हाथी को हथिया लेने की हविस चाहे स्वयं पैदा हुई, चाहे रानी के कहने से पैदा हुई, यह अपने आप में कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है। तथ्य यह है कि कोणिक के दिल में वह इच्छा उत्पन्न हुई और एक दिन कोणिक ने उनसे कहा- अपना हार और हाथी मुझे दे दो। ये दोनों राज्य के रत्न हैं। भाइयों ने उत्तर दिया- हमें राज्य का कोई हिस्सा नहीं मिला है और उसके बदले में ये दो चीजें मिली हैं। ये लेनी हैं तो राज्य का हिस्सा दे दो।

कोणिक ने कहा- राज्य मुझे मिला नहीं है। मैंने उसे पाया है। इसमें से कुछ नहीं मिलेगा। मुझे हार और हाथी दे दो।

जब यह वृत्ति जागती है कि देने को कुछ नहीं है, किन्तु लेने को सब कुछ है, तो तीखी तलवारें बाहर आने से पहले ही मन में खिच जाती हैं ! और जब वह बाहर आ जाती है तो घमासान मच जाता है ! तृष्णा में से ज्वाला निकलती है।

जब यह वृत्ति जागती है, कि देने को कुछ नहीं है, किन्तु लेने को सब कुछ है, तो तीखी तलवारें बाहर आने से पहले ही मन में फिर जाती हैं !

तो कोणिक ने इस घटना को लेकर अपने भाइयों के आश्रयदाता अपने नाना के साथ अनेक अत्याचार किये और अनेकों का खून बहाया।

संसार में ऐसे व्यक्ति भी होते हैं, जो अपने स्वार्थ के लिए और अपनी लोलुपता के लिए करोड़ों मनुष्यों का रक्त बहाने में संकोच नहीं करते और स्नेही गुरुजनों की हत्या का कलंक भी अपने सिर पर ओढ़ने को तैयार हो जाते हैं ! यह सब किसलिये है ?

आखिर मनुष्य इस प्रकार पिशाच क्यों बन जाता है ? कौन-सी शक्ति उसके विवेक को कुचल देती है ? यह सब बढ़ती हुई इच्छाओं का प्रताप है। जिसने अपनी इच्छाओं को स्वच्छन्द छोड़ दिया और उन पर अंकुश नहीं लगाया, वह मानव से दानव बन गया !

और वह दानव जब इच्छाओं पर नियन्त्रण स्थापित कर लेता है और सही राह पर आ जाता है, तो फिर मानव, और कभी-कभी महामानव की कोटि में भी आ जाता है। और इस रूप में बड़े विचित्र इतिहास हमारे समाने आते हैं।

जिसने अपनी इच्छाओं को स्वच्छन्द छोड़ दिया और उन पर अंकुश नहीं लगाया, वह मानव से दानव बन गया !

दानव जब इच्छाओं पर नियन्त्रण स्थापित कर लेता है और सही राह पर आ जाता है, तो फिर मानव, और कभी-कभी महामानव की कोटि में भी आ जाता है।

कई ऐसे भी होते हैं जो अपने-परायों का खून बहाकर जनता की निगाह में ऊँचा बनने के लिए बाद में भक्त बन जाते हैं। कोणिक ने यही किया। घोर अत्याचार करने के बाद वही कोणिक, भगवान् महावीर का शिष्य बनता है और जब तक उनके कुशल समाचार नहीं सुन लेता है, पानी का घूँट भी मुँह में नहीं लेता है। वह उस गन्दगी

को साफ करना चाहता है, और उन धब्बों को धोने के लिए महापुरुषों के चरणों का आश्रय लेता है ।

भगवान् महावीर के समाने हजारों की सभा जुड़ी है । कोणिक ने चाहा कि भगवान् महावीर से मर कर स्वर्ग पाने का फतवा ले लूँ । वह सोचता है कि मैंने जो भक्ति की है, उससे मेरे सभी पाप धुल गये ।

सच्ची भक्ति से पाप धुल भी सकते हैं, किन्तु जहाँ दिखावा ही है और अपनी प्रतिष्ठा को कायम रखने की ही भावना है, जहाँ मन में भक्ति का सच्चा और निर्मल झरना नहीं बहा है, वहाँ एक भी धब्बा नहीं धुलता है ।

कोणिक ने प्रश्न किया- प्रभो ! मैं मर कर कहाँ जाऊँगा ?

भगवान् ने कहा- यह प्रश्न मुझसे पूछने के बदले, तुम्हें अपने मन से पूछना चाहिए और उसी से मालूम करना चाहिए । प्रश्न का उत्तर देने वाला तो तुम्हारे अन्दर ही बैठा है । तुम्हें स्वर्ग और नरक की कला तो बतलाई जा चुकी है । अब तुम अपने अन्तरात्मा से ही पूछ लो कि कहाँ जाओगे ?

सुच्चिण्णा कम्मा सुचिण्णफला हवन्ति,
दुच्चिण्णा कम्मा दुचिण्णफला हवन्ति ।

अच्छे कर्मों का अच्छा फल मिलता है और बुरे कर्मों का बुरा फल मिलता है ।

गेहूँ बोने वाले को गेहूँ की ही फसल मिलेगी, यह नहीं कि जब वह फसल काटने जायेगा तो उसे गेहूँ के बदले जुवार की फसल खड़ी

मिले । और जो बबूल बो रहा है, उसे आम कहाँ से मिल जाएँगे ? यह तो निसर्ग का अटल नियम है । इसमें कभी विपर्यास नहीं हुआ, कभी उलट फेर नहीं हो सकता है । अनन्त-अनन्त काल बीत जाने पर भी यह नियम ज्यों का त्यों रहने वाला है ।

यह जीवन राक्षस-जीवन है या दिव्य-जीवन है ? इस प्रश्न का निर्णय यहीं होना चाहिए और स्पष्ट निर्णय हो जाना चाहिए । जो इस अटल और ध्रुव सत्य को भली-भांति पहचान लेगा, वह निर्णय भी कर लेगा ।

जीवन का अर्थ क्या है ? जो यहाँ देवता बना है, उसको यहीं मालूम होना चाहिए कि वह आगे भी देवता बनेगा, और जिसने दूसरों के आँसूं बहाये हैं, दूसरों की जिन्दगी में आग पैदा की है, दूसरों का हाहाकार देखा है और देखकर मुस्कराया है, वह आदमी नहीं राक्षस है और उसके लिए देवता बनने की बात हजारों कोस दूर है । उसके लिए तो वही बात होगी कि उस पर दुनियाँ हँसेगी और वह रोएगा ।

स्वर्ग की कामना करे और नरक के योग्य काम करे, तो स्वर्ग कैसे मिल जायेगा ? इसके विपरीत, मनुष्य संसार में कहीं भी हो, यदि उसके विचार पवित्र है और उसने दुनियाँ के कांटों को चुना है हटाया है, मार्ग को साफ किया है, किसी भी रोते हुए को देखकर उसके हृदय से प्रेम की धारा बही है, तो फिर स्वर्ग उसे मिलेगा ही । ऐसे व्यक्ति को स्वर्ग नहीं मिलेगा तो किसे मिलेगा ?

अपने जीवन को देखो और अपने ही मन से बात करो, तो पता चल जाएगा कि तुम्हारा अगला जीवन क्या बनने वाला है ?

अपने जीवन को देखो और अपने ही मन से बात करो, तो पता चल जाएगा कि तुम्हारा अगला जीवन क्या बनने वाला है ? हमें कई लोग मिलते हैं और पूछते हैं कि अगले जन्म में हम क्या बनेंगे ? मैं उन्हें उत्तर देता हूँ तीन जन्मों को जानने के लिए तो किसी सर्वज्ञ की आवश्यकता नहीं है । और जब ऐसी बात कहता हूँ तो लोग कहते हैं- सीमंधर स्वामी से पूछने से पता चल सकता है ? किन्तु मैं कहता हूँ- सीमंधर स्वामी के भी पास जाने की क्या जरूरत है ? वह जो कहेंगे, कर्मों के अनुसार ही कहेंगे । कोई नवीन बात क्या कहनी है ? जो महावीर कह गये हैं, वही सीमंधर स्वामी भी कहेंगे । आखिरकार वहाँ भी विश्वास रखना पड़ेगा । भगवान् महावीर ने मनुष्य, तिर्यंच, देव और नारक बनने के कारण बतला दिये हैं । अब उसमें कोई नयी बात जुड़ने वाली नहीं है । इस प्रकार मनुष्य को अपने तीन जन्मों का पता लगाने में तो कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए ।

तुम अपने पहले के जीवन को देखो, जो पहले करके आए थे, उसी के अनुरूप यहाँ मिल गया । जिसने पहले कुछ नहीं किया, उसे यहाँ कुछ नहीं मिला और जो यहाँ कुछ नहीं कर रहा है, उसे आगे कुछ मिलने वाला नहीं है । इस प्रकार तीन जन्मों के पुण्य-पाप की कहानियाँ तो यहीं मौजूद हैं । उन्हें जानने के लिए सर्वज्ञ की कोई आवश्यकता नहीं है । दुर्भाग्य से इससे आगे हमारी बुद्धि नहीं जाती है, मगर फिर भी हम इतना जानते हैं कि अनन्त-अनन्त जीवन गुजर जाने के बाद भी यही होगा कि अच्छे कर्मों का अच्छा फल मिलेगा और बुरे कर्मों का बुरा फल मिलेगा ।

अच्छे कर्मों का अच्छा फल मिलेगा और बुरे कर्मों का बुरा फल मिलेगा।

हाँ, तो राजा कोणिक ने भगवान् महावीर से अपने भावी जन्म के सम्बन्ध में प्रश्न किया और भगवान् ने कह दिया कि इस प्रश्न का उत्तर तो तुम्हारी अन्तरात्मा भी दे सकती है। उसी से पूछ लो। किन्तु जब कोणिक ने विशेष आग्रह किया तो भगवान् ने कहा- राजन्, तुम इस शरीर को त्याग कर छठी नरक में जाओगे।

कोणिक ने यह उत्तर सुना तो जैसे उस पर वज्र गिर पड़ा ! उसकी सारी मिल्कियत लुट गई ! उसको आशा थी कि भगवान् किसी ऊँचे स्वर्ग का नाम बतलाएंगे ! उसने जिस प्रभु से यह आशा की थी, वे सम्राट् का लिहाज करने वाले नहीं थे ! वह महावीर से स्वर्ग खरीदना चाहता था, पर स्वर्ग न कौड़ियों से खरीदा जा सकता है और न धर्म का दिखावा करने से ही खरीदा जा सकता है।

वह महावीर से स्वर्ग खरीदना चाहता था, पर स्वर्ग न कौड़ियों से खरीदा जा सकता है और न धर्म का दिखावा करने से ही खरीदा जा सकता है।

कोणिक हैरान था ! वह कहने लगा- भगवन् ! मैं आपका इतना बड़ा भक्त हूँ; फिर भी मैं मर कर नरक में जाऊँगा ?

मगर वह यह नहीं देखता कि भक्त कब से बना ? जिसने अपने पिता को कैद किया, अपने नाना को भी नहीं छोड़ा। जिसकी आग में नाना और उसका सारा का सारा परिवार जल कर भस्म हो गया, जिसने अपने सहोदर भाइयों के साथ अन्याय और अत्याचार किये, उसके जीवन में दूसरों के सम्बन्ध में क्या भावना होगी ? जिसने अपने परिवार की ऐसी दुर्दशा की हो, वह भगवान् के पास आकर भी क्या पाएगा ? जिसने

अपनी इच्छाओं को अप्रतिहत गति से भागने दिया, और जो उनका गुलाम बनकर रहा, जिसने इच्छाओं पर नियन्त्रण नहीं किया, इच्छाओं का परिमाण भी नहीं बांधा, और जो परिग्रह के ही चंगुल में फँसा रहा, जो महारम्भ और महापरिग्रह की भूमिका पर रहा, वह नरक नहीं पाएगा तो क्या पाएगा ?

तो, सबसे बड़ी बात यही है कि मनुष्य स्वर्ग और मोक्ष पाने के लिए अपनी निरंकुश इच्छाओं पर अंकुश स्थापित करे, अपनी लालसा को जीते और सन्तोषशील होकर जीवन-यापन करे । फिर उसे अपने भविष्य के सम्बन्ध में किसी से पूछने की आवश्यकता ही नहीं रहेगी । जीवन का भगवान् तो अपने अन्दर ही है ।

तू प्रभु को प्यार करना चाहता है तो सबसे पहले यह देख कि तू प्रभु की सन्तान को प्यार करता है या नहीं ?

एक सन्त ने कहा है- तू प्रभु को प्यार करना चाहता है तो सबसे पहले यह देख कि तू प्रभु की सन्तान को प्यार करता है या नहीं ? यदि प्रभु की सन्तान से प्यार नहीं किया तो प्रभु से क्या प्यार कर सकेगा? जो, प्रभु के पुत्रों के गले काटे और प्रभु के चरणों पर उनकी भेंट चढ़ावे । क्या वह प्रभु से प्यार करता है ? और क्या वह प्रभु के प्रसाद को पाने की आशा करता है ? जो इस महत्वपूर्ण प्रश्न को नहीं समझ लेगा, उसका जीवन कभी भी आदर्श जीवन नहीं बन सकता ।

तो भगवान् महावीर ने कहा कि अपने कर्तव्यों को देखो कि तुमने क्या किया है, क्या कर रहे हो और क्या करना चाहिए ? याद रखो, तुम्हारे दुष्कार्य तुम्हारे जीवन का नक्शा नहीं बदल सकते हैं;

सत्कार्य ही जीवन में परिवर्तन ला सकते हैं। किसी ने कहा है- प्रभो ! मैं न राज्य चाहता हूँ, न साम्राज्य चाहता हूँ और न संसार की प्रतिष्ठा और इज्जत चाहता हूँ। मैं सिर्फ यह चाहता हूँ कि नरक में भी जाऊँ तो इतनी कृपा रहे कि मुझे तेरा नाम याद रहे !

अपने कर्तव्यों को देखो कि तुमने क्या किया है, क्या कर रहे हो और क्या करना चाहिए ? याद रखो, तुम्हारे दुष्कार्य तुम्हारे जीवन का नक्शा नहीं बदल सकते है; सत्कार्य ही जीवन में परिवर्तन ला सकते हैं।

जिसके हृदय में भक्ति का तूफान आया है, वह इतना अल्हड़ हो जाता है कि अगर कोई उससे कह दे कि तू नरक में जायेगा, तो उससे यही उत्तर मिलता है- हजार बार नरक में जाऊँ, पर यह बता दो कि परमात्मा की भक्ति और प्रेम तो मेरे हृदय से नहीं निकल जाएगा ? हृदय में परमात्मा के प्रति अखण्ड प्रीति की ज्योति जग रही हो तो मैं नरक के घोर अन्धकार को भी प्रकाशमय कर दूँगा। चित्त में भगवद् भक्ति भरी है तो फिर दुनियाँ के किसी कोने में जाने में कोई भय नहीं है।

किन्तु कोणिक की भक्ति वास्तविक भक्ति नहीं थीं। वह तो स्वर्ग का सौदा करने के लिए प्रकट हुई थी और जनता की घृणा को प्रशंसा के रूप में परिणत करने के लिए पैदा हुई थी। उससे स्वर्ग कहाँ मिलने वाला था ?

अभिप्राय यह है कि परिग्रह की लालसा मनुष्य को ले डूबती है। जहाँ परिग्रह की वृत्तियाँ जागती है, मनुष्य का जीवन अन्धकारमय बन जाता है। मनुष्य समझता है कि वैभव और सम्पत्ति को अपने कब्जे

परिग्रह के गहरे कीचड़ में फँसा हुआ मनुष्य न खाता है, न पीता है और दरिद्र के रूप में रहता है। वह बही-खाते देखता रहता है, और इस साल में इतना जमा हो गया और बैंक में इतनी राशि मेरे नाम पर चढ़ चुकी है, यही देख-देख कर खुश होता रहता है। उसकी इच्छा दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती जाती है।

में कर रहा हूँ। मगर वास्तव में धन-सम्पत्ति और वैभव ही उसकी जिन्दगी को अपने कब्जे में कर लेता है। फिर वह न अपना खुद का रह जाता है, न कुटुम्ब-परिवार का रह जाता है और न दूसरों का ही रह जाता है ! न उससे अपना कल्याण होता है और न दूसरों का ही कल्याण हो सकता है। वह सब तरह से और सब तरफ से गया-बीता बन जाता है। न वह दूसरों को चाहता है और न दूसरे ही उसे चाहते हैं। वह चारों ओर से घृणा का ही पात्र बनता है।

देखते हैं कि परिग्रह के गहरे कीचड़ में फँसा हुआ मनुष्य न खाता है, न पीता है और दरिद्र के रूप में रहता है। वह बही-खाते देखता रहता है, और इस साल में इतना जमा हो गया और बैंक में इतनी राशि मेरे नाम पर चढ़ चुकी है, यही देख-देख कर खुश होता रहता है। उसकी इच्छा दिन दूनी, रात चौगुनी बढ़ती जाती है। न परिवार को उससे कुछ मिल रहा है और न राष्ट्र और समाज को ही कुछ मिल रहा है ! देश भूखा मरता है तो मरे, परिवार के लोग अन्न-वस्त्र के लिए मोहताज हैं तो रहें, उनसे क्या वास्ता ? उसकी तो पूँजी बढ़ती चली जाय, बस इसी में उसे आनन्द है !

ऐसे मनुष्य को एक सन्त ने अड़वा (बिजूका) कहा है। फसल

होती है तो पशु उसे खाने को आते हैं। किसान खेत के बीच में एक अड़वा खड़ा कर देता है। उसके सम्बन्ध में कहा गया है-

जैसे अडवा खेत का, खाय न खावा देय।

लकड़ियों का ढाँचा खड़ा करके दुनियाँ के गन्दे से गन्दे कपड़े उसे पहनाये जाते हैं और सिर की जगह काली हांडी रख दी जाती है ! वही नराकार अड़वा कहलाता है।

फसल खड़ी है, पर अड़वा न खुद ही खाता है और न दूसरों का ही खाने देता है। वह केवल आदमी की शक्ल है, आदमी नहीं है। इसी प्रकार जो अपनी सम्पत्ति का न स्वयं उपभोग करता है, न दूसरों के काम आती है, वह भी क्या आदमी है ? वह शक्ल से इन्सान है, परन्तु इन्सान का दिल उसके पास नहीं है। उसकी इन्सानियत विदा हो गई है, वह जड़ के रूप में खड़ा है।

इन्सानियत की बुद्धि जागेगी तो जड़ की इच्छा कम हो जाएगी और जीवन में जितनी ज्यादा लूट-खसोट होगी, इन्सानियत की आत्मा उतनी ही अधिक मलिन होती जाएगी। उसकी इन्सानियत का दीपक बुझता जाएगा। ऐसा आदमी खुद भी भटकेगा और दूसरों को भी भटकाएगा। परिग्रह की बुद्धि उसकी समग्र जिन्दगी को बर्बाद कर देगी।

जीवन में जितनी ज्यादा लूट-खसोट होगी, इन्सानियत की आत्मा उतनी ही अधिक मलिन होती जाएगी। उसकी इन्सानियत का दीपक बुझता जाएगा।

आशय यह है कि मनुष्य परिग्रह के चक्कर में पड़ कर अपने जीवन को नष्ट

न करे, अपनी इच्छाओं को ही अपने जीवन की आवश्यकता समझ कर उनके पीछे-पीछे न भटके, यही 'इच्छा-परिमाण' या 'परिग्रह-परिमाण व्रत' का उद्देश्य है, और जो इस व्रत को अंगीकार करता है, वह आनन्द की भाँति आनन्द का अधिकारी होता है ।

ब्यावर (अजमेर)
दि. 16.11.50

खून भरा कपड़ा खून से साफ नहीं हो सकता। कपड़े को धोने के लिए पानी आवश्यक है, खून नहीं। परन्तु मनुष्य सुनता ही नहीं है, और अभी तक रक्त के कपड़े को रक्त से ही धोने का प्रयत्न कर रहा है। इसलिए शान्ति दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। जो देश धनी हैं, वे भी अशान्त हैं और जो निर्धन हैं, वे भी अशान्त हैं। लूटमार मच रही है। सर्वत्र परेशानी और बेचैनी है। इन सब का मूल कारण परिग्रह है।

तृष्णा की आग

उपासक आनन्द ने परिग्रह-परिमाण व्रत को अंगीकार किया। परिग्रह-परिमाण व्रत को अंगीकार करने का अर्थ है- जो जीवन अमर्यादित है, जिसमें इच्छाओं का कहीं अन्त नहीं है, जो कुछ भी मिल सके, उसे लेना ही जिस जीवन का उद्देश्य है, उस जीवन को समेट लेना, मर्यादा के भीतर ले लेना और इच्छाओं के प्रसार को रोकने के लिए एक दीवार खड़ी कर लेना।

आम तौर पर मनुष्य अपने जीवन को अपनी इच्छाओं के वशीभूत करके उसे बेहद लम्बा बना लेता है। वह अपनी इच्छाओं के पीछे-पीछे दौड़ता है- उनकी तृप्ति के लिए, परन्तु इच्छाएँ परछाई की तरह आगे-आगे बढ़ती हैं, दिन दुनी और रात चौगुनी ! एक इच्छा तृप्त हुई नहीं कि दस नवीन इच्छाएँ पैदा हो गयीं।

बस, इसी मनोवृत्ति के मूल में समस्त संघर्ष निहित हैं। आज समाज में, परिवार में और राष्ट्र में जो हाहाकार चारों ओर सुनाई पड़ता है, वास्तव में, उसकी जननी यह लोभ की वृत्ति ही है। जब तक लोभ की वृत्ति को दूर नहीं किया जायेगा, वासना पर अकुंश नहीं रखा जाएगा, इच्छाओं को कुचलने की शक्ति नहीं उत्पन्न होगी और इस रूप में परिग्रह-परिमाण व्रत का आचरण नहीं किया जाएगा, तब तक आज के संघर्षों के मिटने की कल्पना करना मात्र सपना देखना ही है। संघर्षों

के मूल को पहचाने बिना संघर्षों को दूर करने की कल्पना, कल्पना ही रह जाएगी । समस्त संघर्षों का मूल है, तृष्णा ।

ऊँचे से ऊँचे विचारकों ने ज्ञान की रोशनी दी, मगर लोभ का अन्धकार दूर नहीं हो सका, और आज का संसार उसी अन्धकार में भटक रहा है । कहने को तो मनुष्य ने विद्युत शक्ति पर भी अधिकार जमा लिया और उसके प्रकाश से दुनियाँ जगमगा उठी, परन्तु इस बाहरी प्रकाश ने मनुष्य के अन्तरतम में गहरा अन्धकार भर दिया । मनुष्य बाहरी प्रकाश की चमक में ही भूल गया और उसने अन्दर के तम को दूर करने के प्रयत्न को ही छोड़ दिया । बिना साधना के प्रकाश कैसे आएगा ?

महापुरुषों की दिव्य वाणी का जो अलौकिक प्रकाश उसे मिला, वह उसे अमल में न लाकर उसे तो उसने सुनने तक ही सीमित रखा । जीवन में सीमा का होना आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है । बड़े-बड़े सम्राटों और राजाओं ने भी शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया, किन्तु वे सफल न हो सके । शान्ति स्थापित करने के लिए ही हवाई जहाज बने, रॉकेट बने और एटम बम भी, मगर ये सब भी दुनियाँ में शान्ति की स्थापना न कर सके ।

जीवन में सीमा का होना आवश्यक ही नहीं बल्कि अनिवार्य भी है ।

बड़े-बड़े सम्राटों और राजाओं ने भी शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न किया, किन्तु वे सफल न हो सके। शान्ति स्थापित करने के लिए ही हवाई जहाज बने, रॉकेट बने और एटम बम भी, मगर ये सब भी दुनियाँ में शान्ति की स्थापना न कर सके।

जब यूरोप में बारुद का आविष्कार हुआ, तो लोगों ने समझा कि अब युद्ध नहीं होगा। जब टैंकों और वायुयानों का आविष्कार हुआ, तब भी यही सम्भावना पैदा हुई और संसार के राजनीतिज्ञों ने यही आश्वासन दिया। मगर लोगों ने देखा कि युद्ध बंद तो हुआ नहीं, उसने और भी प्रचण्ड रूप धारण कर लिया। पहले जो युद्ध होते थे, सैनिकों तक ही सीमित रहते थे। पर आज सैनिक और असैनिक का भी भेद नहीं रह गया। पहले के अस्त्र-शस्त्रों में सीमित संहारक शक्ति थी, आज वह असीम होती जा रही है। एक छोटा-सा बम गिरा और अनेकों के प्राण चले गये। फिर भी युद्ध का अन्त कहाँ नजर आ रहा है ? संसार का संहार करने के नये-नये प्रयत्न किये जा रहे हैं। कहीं-कहीं युद्ध समाप्त भी नहीं हो पाता और दूसरे युद्ध की तैयारियाँ होने लगती हैं। हिंसा, प्रतिहिंसा को जन्म देती है।

हिंसा, प्रतिहिंसा को जन्म देती है।

खून से भरा कपड़ा खून से साफ नहीं हो सकता।

हालत यह है कि मनुष्य बारुद के ढ़ेर पर बैठा है और पलीता पास में रख छोड़ा है। कहता है- मैं बारुद में पलीता लगा दूँगा, तो शान्ति हो जायेगी। किन्तु क्या यह शान्ति प्राप्त करने का तरीका है ? पर दुनियाँ की आज यही स्थिति बन गई है।

खून से भरा कपड़ा खून से साफ नहीं हो सकता। यह नयी बात नहीं है, हजारों वर्ष पहले कही हुई बात है। कपड़े को धोने के लिए पानी आवश्यक है, खून आवश्यक नहीं। परन्तु मनुष्य सुनता नहीं है, और अभी तक रक्त के कपड़े को रक्त से ही धोने का प्रयत्न कर रहा है। इसलिए शान्ति दृष्टिगोचर नहीं हो रही है। जो देश धनी हैं, वे भी अशान्त हैं और

जो निर्धन हैं, वे भी अशान्त हैं। लूटमार मच रही है। सर्वत्र परेशानी और बेचैनी है। इन सब का मूल कारण परिग्रह है।

आज की लड़ाइयों का मूल परिग्रह ही है। परिग्रह के लिए ही यह लड़ाइयां लड़ी जा रही हैं। किसी समय मान-प्रतिष्ठा के लिए अथवा विवाह-शादियों के लिए लड़ाइयां होती थीं। किन्तु आज की लड़ाइयों का उद्देश्य यह नहीं है। बहुत बड़ी प्रतिष्ठा पाने के लिए अथवा चकवर्ती बनने के लिए आज युद्ध नहीं होते हैं। इन युद्धों का उद्देश्य मण्डियां तैयार करना है, जिससे कि विजेता राष्ट्र अविजित राष्ट्र को माल देता रहे और लूटता रहे। आज व्यापार के प्रसार के लिए युद्ध होते हैं।

इस प्रकार व्यापार के लिए ही युद्ध प्रारम्भ किये जाते हैं, लड़े जाते हैं और व्यापार के लिए ही समाप्त भी किये जाते हैं। गहरा विचार करने पर यही एक-मात्र आज के युद्धों का उद्देश्य समझ में आता है। विश्व में धन की पूजा हो रही है।

दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है, कि आज विश्व में जो भी अशांति है, उसका प्रधान कारण परिग्रह है। परिग्रह के मोह ने एक राष्ट्र को, दूसरे राष्ट्र को चूसने और पद-दलित करने के लिए ही प्रेरित नहीं किया वरन् एक ही राष्ट्र के अन्दर भी वर्ग-युद्धों की आग सुलगाई है।

पूंजीपतियों और मजदूरों के बीच जो संघर्ष चल रहा है, जो दिनों-दिन भयानक बनता जा रहा है, जिसके विस्फोटक परिणाम बहुत दूर नहीं हैं, उसका कारण क्या है ? परिग्रह के प्रति अतिलालसा। जिस अतिलालासा के कारण, एक वर्ग दूसरे वर्ग की आवश्यकताओं की उपेक्षा करके अपनी ही तिजोरियां भरने की कोशिश करता है, उसी ने वर्ग-संघर्ष को जन्म दिया है। उसका अन्त कहाँ है ?

अभिप्राय यह है, कि जब तक परिग्रह की वृत्ति अन्दर में कम नहीं हो जाती, तब तक संसार की अशान्ति कदापि दूर नहीं हो सकती । जब तक प्रत्येक राष्ट्र परिग्रह-परिमाण की नीति को नहीं अपनाएगा, तब तक खून की होली खेलता ही रहेगा ।

भगवान् महावीर ने और दूसरे महापुरुषों ने किसी समय सच ही कहा था कि परिग्रह ही अशान्ति का मूल है और अपरिग्रह ही शान्ति का मूल है । दशवैकालिक सूत्र के अध्ययन 8 में कहा है-

कोहो पीइं पणासेइ, माणो विणय-नासणो ।
माया मित्ताणि नासेइ, लोहो सव्व-विणासणो ।।

क्रोध आता है, तो प्रेम का नाश करता है । वह प्रीति नहीं रहने देता, उसकी हत्या कर देता है । अभिमान के जागने पर विनम्रता और शिष्टता चली जाती है । गुणीजनों के प्रति आदरभाव समाप्त हो जाता है, और मनुष्य ठूँठ की तरह खड़ा रहता है । अभिमान आने पर, पत्थर का टुकड़ा चाहे झुके, पर मनुष्य नहीं झुकता । मायाचार या छल-कपट मित्रता को नष्ट कर देता है । परिवारों में जब तक सरलता का भाव रहता है, वे एक दूसरे के हृदय को जानते रहते हैं । उनका जीवन खुली हुई पुस्तक के समान रहता है । वहाँ निष्कपट मित्रता गहरी होती जाती है, और जीवन का उल्लास तथा आनन्द बना रहता है; किन्तु जब उनमें छल-कपट पैदा हो जाता है, तब मित्रता के टुकड़े-टुकड़े

> *परिग्रह ही अशान्ति का मूल है और अपरिग्रह ही शान्ति का मूल है।*
>
> *जहाँ छल-कपट रहेगा, वहाँ मित्रता कायम नहीं रह सकती।*

हो जाते हैं । आप चाहें कि एक दूसरे को धोखा भी दें और मित्रता भी बनाये रखें, तो यह नहीं हो सकता । कोई एक फैसला करना होगा । या तो सरल-भाव कायम रख लो या छल-कपट ही कर लो ! जहाँ छल-कपट रहेगा, वहाँ मित्रता कायम नहीं रह सकती । छल से बल टूट जाता है ।

मनुष्य की आसक्ति ही मनुष्यता के टुकड़े-टुकड़े कर देती है तथा जीवन की अच्छाइयों की हत्या कर डालती है।

विराट् होने में ही सुख है, शान्ति है।

जब लोभ की बारी आई तो भगवान् कहते हैं- लोभ सबका नाश कर डालता है । अन्य अवगुण तो एक-एक गुण का नाश करते हैं; किन्तु लोभ सभी गुणों का नाश करता है । लोभ के जागृत होने पर न प्रेम रहता है, न विनय, न शिष्टता ही रहती है । लोभी एक-एक कौड़ी के लिये दूसरों का तिरस्कार करने लगता है । लोभ से मित्रता का भी नाश हो जाता है । इस प्रकार मनुष्य की आसक्ति ही मनुष्यता के टुकड़े-टुकड़े कर देती है तथा जीवन की अच्छाइयों की हत्या कर डालती है । लोभ की मौजूदगी में, जीवन में जो विराट् भावना आनी चाहिए, वह नहीं आ पाती ।

मनुष्य जितना क्षुद्र होता जाता है, विनाश की ओर जाता है और जितना विशाल बनता जाता है, उतना ही कल्याण की ओर बढ़ता जाता है । विराट् होने में ही सुख है, शान्ति है ।

लोभ की यही भूमिका है । लोभ से मनुष्य कभी शान्ति का अनुभव नहीं कर पाता । मनुष्य आज तक क्या करता आया है ? वह लोभ को शान्त करने के लिए लोभ करता रहा है । इसका अर्थ यही तो

है कि खून के कपड़े को खून से ही साफ करने का प्रयास करता आया है। परन्तु यह कैसे हो सकता है ?

आग जल रही है और उसके ऊपर दूध गरम करने के लिए रख छोड़ा है। जब दूध गरम होता है, तब उसमें उफान आता है और वह नीचे गिरने लगता है। नीचे गिरने लगता है, तो पानी के ठंडे छींटे दिये जाते हैं और वह शान्त हो जाता है। थोड़ी ही देर में फिर दूध उफनने लगता है, तो फिर छींटे दिए जाते हैं, मगर इस प्रकार ठंडे छींटे दे-देकर दूध को कब तक शान्त रखा जाएगा ? आग जल रही है, तो दूध को उफनना ही है। उसे शान्त नहीं किया जा सकता। दूध को शान्त करने का तरीका आग को शान्त कर देना ही है।

इस पर पंजाब के एक भाई की कहानी मुझे याद आ रही है- कुछ ऊँट वाले थे और नित्य की भाँति उस दिन भी वे ऊँटों पर माल लाद कर चले। संध्या हुई, अंधकार होने लगा तो उन्होंने एक मैदान में पड़ाव डाला। ऊँटों पर से बोरियाँ उतार दी गयीं। उनमें से एक आदमी ने सोचा- रात का समय है, अन्धेरा है। नींद आ गई और कोई बोरी उठा ले गया, तो मुश्किल हो जाएगी। यह सोचकर उसने बोरी में रस्सा बांधकर उसे अपने पैरों से बांध लिया और सो गया।

आधी रात के करीब चोर आए और संयोगवश उसी की बोरी पर उन्होंने हाथ डाला। वे बोरी सरकाने लगे तो वह जग गया और बड़बड़ाने लगा- अरे कौन है ? उसके साथियों ने सोचा- सोते में, छाती पर हाथ पड़ गया है और इसी कारण बड़बड़ा रहा है। अतएव उन्होंने आँखें मींचे-मींचे कहा- राम-राम कर। तब वह बोला- घसीट मिटे तो राम-राम करूँ, घसीट न मिटे तो राम-राम कैसे हो ?

यही बात दूध के उफान के सम्बन्ध में है । नीचे जलती हुई आग शान्त हो, उफान शान्त हो । आग शांत नहीं होती तो उफान कैसे शांत हो सकता है ? लोभ मिटे, तो शान्ति मिले ।

यही बात लोभ के विषय में भी है । मनुष्य आज क्या कर रहा है ? उसके भीतर लोभ की आग जल रही है और उसकी तृष्णा उफन-उफन कर ऊपर आती है । जो त्याग और वैराग्य की बातों के छींटे दे-दे कर उसे शांत करना चाहता है, वह थोड़ी ही देर के लिए ही उसे भले शान्त कर ले, मगर जब तक लोभ की आग को ठण्डा नहीं करता, स्थायी शान्ति कैसे हो सकती है ? इच्छाओं की पूर्ति भी शान्ति नहीं ला सकती, क्योंकि इच्छाओं का कभी अन्त नहीं होता ।

लोभ मिटे, तो शान्ति मिले।

परिमित धन से अपरिमित आकांक्षाएँ किस प्रकार तृप्त की जा सकती हैं ?

भगवान् महावीर ने एक बहुत सुन्दर बात इस विषय में कही है । संसार में जो धन है, वह परिमित है, अनन्त नहीं है और मनुष्य की इच्छाएँ अनन्त हैं । ऐसी स्थिति में परिमित धन से अपरिमित आकांक्षाएँ किस प्रकार तृप्त की जा सकती हैं ? जिनमें करोडों मन पानी समा सकता हो, उस तालाब में दो-चार चुल्लू पानी डालने से क्या वह भर जाएगा ? भगवान् ने उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है -

जहा लाहो तहा लोहो, लाहा लोहो पवड्ढइ ।
दो मास-कयं कज्जं, कोडिए वि न निट्ठियं ।।

यह एक महान् सूत्र है । इसमें जीवन का असली निचोड़ हमारे

सामने आ गया है। इस सूत्र ने जीवन की सफलताओं की कुंजी हमारे हाथ में सौंप दी है।

ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता है, और ज्यों-ज्यों लोभ बढ़ता है, त्यों-त्यों लाभ को बढ़ाने की कोशिश बढ़ती है। इस तरह लाभ और लोभ में दौड़ लग रही है। इस स्थिति में शान्ति कहाँ ? विश्रान्ति कहाँ ? शान्ति कैसे मिले ?

कपिल महर्षि का उदाहरण हमारे सामने है। वह जितनी गरीबी में थे, उसमें दो माशा सोना ही उनके लिए बहुत था। उस पर ही उनकी आशा लगी थी। चाहते थे कि दो माशा सोना मिल जाय, तो बहुत अच्छा हो। कपिल उसे पाने के लिए कई बार गये, मगर उसे न पा सके।

बात यह थी कि एक राजा ने दान का एक प्रकार से नाटक रच रखा था। उसने नियम बना लिया था कि प्रातःकाल सबसे पहले जो ब्राह्मण उसके पास पहुँचेगा, उसे वह दो माशा सोना भेंट करेगा। उस दो माशे सोने के लिए न मालूम कितने लोगों का कितना समय नष्ट होता था। उस दो माशे सोने को प्राप्त करने के लिए मनुष्यों की लालसा जाग उठी थी, दरबार में एक अच्छी खासी भीड़ लग जाती थी। परन्तु जिसका नाम पहले नम्बर पर लिखा जाता, वही भाग्यवान् उस सोने को पाता था। शेष सब हताश होकर लौट जाते थे।

ज्यों-ज्यों लाभ बढ़ता है, त्यों-त्यों लोभ भी बढ़ता है।

ममता का त्याग ही सच्चा दान है।

यह दान था या दान का नाटक ? इस मीमांसा में हमें नहीं जाना है। इतना अवश्य कहना है कि इस प्रकार का दान

जनता के मन में आग सुलगा देता है और उसकी प्राप्ति के लिए एक दौड़ लग जाती है । ममता का त्याग ही सच्चा दान है ।

कपिल जब भी गये, खाली हाथ ही लौटे । मगर लोक में प्रसिद्ध है कि आशा अजर-अमर है । कपिल ने महीनों तक दौड़-धूप की, इसलिए कि किसी प्रकार दो माशा सोना मिल जाए !

एक दिन तो उसकी स्त्री ने झिड़क कर कह दिया- तुम बड़े आलसी हो । समय पर उठते नहीं, समय पर पहुँचते नहीं, फिर सोना कहाँ से मिले ? प्रमाद त्यागो, तो सुवर्ण मिले ?

कपिल ने किंचित् सहम कर कहा- बात तो ठीक है, अच्छा, आज तुम मुझे जल्दी जगा देना ताकि सबसे पहले पहुँच जाऊँ ।

इतना कहकर और जल्दी से जल्दी जागने का संकल्प करके वह लेट गया । वह लेट तो गया, मगर उसे नींद नहीं आई । रात्रि के बारह बजे वह उठ बैठा और सीधा राजमहल की ओर चल दिया । वह इधर-उधर भटकने लगा । सिपाहियों ने देखा, आधी रात में भटकने वाला कोई भला आदमी नहीं हो सकता ? जरूर कोई चोर होगा और उसे चोर समझकर पकड़ लिया ।

कपिल ने बहुत कहा- मैं चोर नहीं हूँ । मैं दो माशा सोना लेने आया हूँ । पर किसी ने उसकी बात पर ध्यान नहीं दिया ।

'क्या यह सोना लेने का समय है ?' कहकर सिपाहियों ने उसे कारागार में बन्द कर दिया । सन्देह में बन्दी बना लिया ।

प्रातःकाल कपिल को दरबार में हाजिर किया गया । उसके वस्त्र तार-तार हो रहे थे, भूख के मारे आँखें अन्दर धँसी जा रही थीं और वह हड्डियों का ढाँचा नजर आ रहा था । राजा की निगाह कपिल पर

पड़ी और फौरन ताड़ गया, यह गरीब ब्राह्मण है तथा सचमुच सोना लेने की फिराक में निकला होगा । लेकिन बेचारे को पकड़ लिया है ।

फिर राजा ने कपिल से पूछा- रात में क्यों भटक रहे थे ?

कपिल- "अन्नदाता, कई महीने हो गये भटकते-भटकते, पर सोना हाथ न आया । और, आज जब सोना लेने के लिए जल्दी आया, तो इन सिपाहियों के हाथ पड़ गया । इन्होंने मार-मार कर मेरी बड़ी दुर्गति की है ।" और यह कहते-कहते कपिल के नेत्र भर आए वह रो पड़ा ।

राजा द्रवित हो उठा । उसने सहानुभूति भरे स्वर में कहा- दो माशा सोने की क्या बात है ! बोलो, तुम क्या चाहते हो ?

कपिल सोच-विचार में पड़ गया । क्या मांगूँ ? दो माशा सोना मिल भी गया, तो उससे क्या होगा ? सेर दो सेर सोना क्यों न मांग लूँ ! पर वह भी खत्म हो जायेगा । दस-बीस सेर सोना मांग लूँ, तो ब्राह्मणी के भरपूर जेवर बन जाएँगे और चैन से जीवन गुजरेगा । पर उस टूटी झौपड़ी में सोने के जेवर क्या शोभा देंगे ! तो फिर एक महल भी क्यों न मांग लूँ । किन्तु जागीर के बिना महल की क्या शोभा ? तो फिर एक गाँव भी मांग लेने में क्या हर्ज है ? लेकिन एक गाँव काफी होगा ? नहीं, एक गाँव से भी क्या होगा ? जब मांगने ही चले तो एक प्रान्त मांग लेना ही ठीक है । मनुष्य के मन की तृष्णा अनन्त है ।

इस रूप में कपिल की इच्छाएँ आगे बढ़ीं । **'जहा लाहो तहा लोहो ।'** की उक्ति चरितार्थ होने लगी । आखिर, एक प्रान्त भी जब कपिल को छोटा लगा तो उसने राजा का सारा राज्य ही मांग लेने का इरादा कर लिया । हाय लोभ ! धिक् तृष्णा !!

मगर कुछ ही देर के बाद उसका प्रसुप्त मन जाग उठा। सम्पूर्ण राज्य मांगने का इरादा करते ही उसकी चेतना में प्रकाश का उदय हुआ। सुवर्ण का चिन्तन, आत्म-चिन्तन हो गया।

कपिल सोचने लगा- किसी भले आदमी ने देने का कह दिया है, तो क्या उसका सर्वस्व हड़प लेना उचित है ? किसी ने अंगुली पकड़ने का कह दिया, तो क्या उसका हाथ ही उखाड़ लेना चाहिए ? किसी की उदारता का अनुचित लाभ उठाना भी ठीक नहीं है।

और, कपिल विचारों की गहराई में उतर गया। देर होने के कारण राजा सशंकित हो उठा। उसने सोचा- यह गहरे विचार में पड़ गया है, कहीं राजगद्दी न मांग बैठे। अतएव राजा ने कहा- जो मांगना हो, जल्दी मांग लो।

ज्यों ही कपिल ने आँखें खोलीं, राजा की आँखों में घबराहट दिखाई दी। कपिल समझ गया- मेरी तृष्णा से राजा भयभीत हो रहा है। अगर मैंने अपनी तृष्णा व्यक्त कर दी, तो राजा के प्राण-पंखेरु उड़ जाएँगे। कपिल की विचारधारा पलट कर एकदम विरुद्ध दिशा में चली गई। उसने सोचा- **जहा लाहो तहा लोहो।**

लोभ नहीं था, वह आ गया और बढ़ गया। और बढ़ता ही जा रहा है। मुझे दो माशे सोने से मतलब था। मगर राजा ने 'जो कुछ इच्छा हो मांग लो' कह दिया तो, इच्छा बलवती हो उठी, और

> *मनुष्य के मन की तृष्णा अनन्त है।*
>
> *इच्छा वह अग्नि है, जिसे शान्त करने के लिए ज्यों-ज्यों ईंधन डाला जाता है, त्यों-त्यों वह बढ़ती ही चली जाती है।*

वह राजा का सारा राज्य ही लेने को तैयार हो गई। धिक्कार है- ऐसी इच्छा को, और धिक्कार है- ऐसे मन को, जिसमें विराम नहीं है, शान्ति नहीं है। यह इच्छा वह अग्नि है, जिसे शान्त करने के लिए ज्यों-ज्यों ईंधन डाला जाता है, त्यों-त्यों वह बढ़ती ही चली जाती है। ईंधन डालने से आग बुझ नहीं सकती। उसे शान्त करने की विधि ईंधन न डालना ही है। घृत डालने से आग अधिक बढ़ती है, कभी घटती नहीं है। पानी डालकर ही उसे बुझाया जा सकता है। तृष्णा की आग को लोभ से नहीं, सन्तोष से ही मिटाया जाता है।

इस प्रकार लोभ-वृत्ति को समूल नष्ट करने की विचारधारा आई तो, वह महान् पुरुष अपरिग्रह के मार्ग की ओर चल पड़ा, और महर्षि कपिल के रूप में सारे संसार में प्रसिद्ध हो गया।

एक दिन महर्षि कपिल ने पाँच सौ चोरों को देखा। उनके हाथ खून से रंगे थे। उदारता शब्द को उन्होंने कभी सुना भी न था। उस महर्षि की वाणी के प्रकाश में वे पाँच सौ चोर भी उनके शिष्य बन गए। और एक दिन उन्हीं महान् मुनियों की वह टोली संसार को शान्ति का सन्देश देने लगी।

चीन देश के एक राजा की बात है। उस समय सन्त कन्फ्यूसियस थे। उनके पास राजा आया। उसने निवेदन किया- देश में चोरी बहुत हो रही है। मैं उसे रोकने के लिए बहुत कुछ कर चुका हूँ, किन्तु वह बन्द नहीं हो रही है। कृपा करके ऐसा कोई उपाय बतलाइए कि वह बन्द हो जाए।

सन्त कन्फ्यूसियस ने कहा- वास्तव में चोरी बन्द करवाना चाहते हो, तो तुम स्वयं चोरी करना बन्द कर दो। अपने लालच को अधिक

मत बढ़ने दो । लालच के कारण ही तुम अपनी प्रजा को चूस-चूस कर अपना खजाना भर रहे हो । जिस दिन तुम अपने इस लालच को त्याग दोगे और जिस दिन तुम्हारे मन में से झूठ, चोरी और छीना-झपटी की भावनाएँ शान्त हो जाएँगी, उसी दिन यह चोरियाँ भी बन्द हो जाएँगी ।

मैं सोचता हूँ कि हमारी बुराइयों की जड़ हमारे अन्दर ही है । जब तक हम उनसे संघर्ष नहीं करते और मन में फैले हुए लोभ-लालच के जहर को दूर नहीं कर देते, तब तक किसी भी प्रकार शान्ति नहीं पा सकते । संसार में धन सीमित है और इच्छाएँ असीम है । भगवान् महावीर ने उत्तराध्ययन सूत्र में कहा था-

सुवण्ण-रुप्पस्स उ पव्वया भवे, सिया हु केलास-समा असंखया ।
नरस्स लुध्दस्स न तेहि किंचि, इच्छा हु आगास-समा अणंतिया ॥

कल्पना कीजिए- एक लोभी आदमी किसी देवता की मनौती करे, और वह देवता उस पर प्रसन्न हो जाय । यथेष्ट वर मांगने का अधिकार उसे दे दे, तो वह कहे- मुझे धन चाहिए । देवता उसके लिए पृथ्वी पर सोने-चाँदी के पहाड़ खड़े कर दे । कैलास और सुमेरु के समान ऊँचे और खूब लम्बे-चौड़े, और फिर एक-दो नहीं, असंख्य पहाड़, कोई उन्हें गिनना चाहे, तो जिन्दगी पूरी हो जाय, पर उन पहाड़ों की गिनती पूरी न हो । इतने पहाड़ खड़े कर देने के बाद भी उससे पूछा जाए कि अब तो तेरा मन भर गया ? अब तो तुझे शान्ति है ? तो, इस

हमारी बुराइयों की जड़ हमारे अन्दर ही है। जब तक हम उनसे संघर्ष नहीं करते और मन में फैले हुए लोभ-लालच के जहर को दूर नहीं कर देते, तब तक किसी भी प्रकार शान्ति नहीं पा सकते।

प्रश्न के उत्तर में वह लोभी आदमी क्या कहेगा, क्या आप जानते है ? वह कहेगा-

एक पहाड़ इसमें और खड़ा कर दो तो अच्छा हो । तो इस प्रकार के लोभ और इच्छाओं के पीछे बे-लगाम दौड़ने वाले के लिए, वे चाँदी-सोने के पहाड़ भी कुछ नहीं हैं । इतना अपरिमित धन भी उसके लिए नगण्य है । उसकी इच्छाएँ और भी बढ़ती जाएंगी, क्योंकि इच्छाएँ अनन्त है और अनन्त इच्छाओं का गड्ढ़ा सीमित धन से कैसे भरा जा सकता है ?

एक सन्त किसी प्रयोजन से इधर-उधर गए । उन्होंने एक लोभी आदमी को देखा । उसे देखकर लौटे तो अपने चेले से कहा- **देखा रे चेला, बिना पाल सरवर !** - आज मैं एक ऐसे तालाब को देखकर आया हूँ, जिसका तट और किनारा ही नहीं है । तब शिष्य ने झट से कहा- **इच्छा गुरुजी, बिन पाल सरवर ।** अर्थात् गुरुजी ! आप ठीक ही देखकर आए हैं । यह कोई असम्भव बात नहीं है ।

इच्छा का तालाब वह तालाब है, जिसका कहीं ओर-छोर/किनारा ही नहीं है। वस्तुतः तृष्णा का तालाब तट विहीन है।

गुरुजी ने पूछा- असम्भव कैसे नहीं है ? तालाब है, तो किनारा भी होना चाहिए । बिना किनारे का तालाब कैसा !

चेला बोला- गुरुजी अन्य तालाब के तो किनारें होते हैं, पर इच्छा का तालाब वह तालाब है, जिसका कहीं ओर-छोर/किनारा ही नहीं है । वस्तुतः तृष्णा का तालाब तट विहीन है ।

गुरु ने सन्तोष के साथ कहा- तुम

ठीक बात पर पहुँच गए हो । तुमने वस्तुस्थिति को समझ लिया है ।

मनुष्य का मन विश्व की समस्त सम्पत्ति पाने पर भी शान्त होने वाला नहीं है । इस सत्य का जीवन में हम किसी भी समय अनुभव कर सकते हैं । संसार में एक तरफ वे साधन हैं, जिनके लिए इच्छा पैदा होती है, और मनुष्य उस इच्छा की पूर्ति के लिए उन साधनों को ग्रहण कर लेता है । मगर उनसे इच्छा की पूर्ति नहीं होती बल्कि और नवीन इच्छा उत्पन्न हो जाती है । नवीन साधनों को ग्रहण करता है । लेकिन फिर वही हाल होता है । फिर कोई नयी इच्छा उत्पन्न होती है, तो इच्छाओं की पूर्ति करते जाना, इच्छाओं की आग को शान्त करना नहीं है- इस तरीके से आग बुझती नहीं, बढ़ती ही जाती है । अतएव इच्छा पूर्ति का मार्ग कोई कारगर मार्ग नहीं है । यह धर्म का मार्ग नहीं है । यह तो संसार का मार्ग है और इससे शान्ति नहीं मिल सकती ।

इस विषय में जैन धर्म का मार्ग यह है कि इच्छा की शान्ति धन से नहीं होगी । वस्तु प्राप्त करने से इच्छा शान्ति नहीं होगी । इच्छा की आग जब भड़कने लगे तो सन्तोष का जल उस पर छिड़किए, वह आग निश्चय ही शान्त हो जाएगी । आपके मन का दौड़ना रुक जायेगा तो, आपकी इच्छाएँ भी सिमट कर उसके किसी कोने में समा जाएँगी । यही है, इच्छाओं को मिटाने का राजमार्ग ।

यह दृष्टि लेकर अगर जीवन में चलेंगे, तो अपरिग्रह का व्रत आपके ध्यान में आ जाएगा । वास्तव में अपरिग्रह का अर्थ भी यही है । मान लो, कोई सम्राट् है, या सम्पत्तिशाली है, और वह अपने आपमें ऐच्छिक गरीबी धारण करता है, भोग के सभी साधन एवं सम्पत्ति-सम्पन्न होते हुए भी अपनी इच्छाओं पर अंकुश लगाता है, स्वयं में गरीबी के भाव पनपाता है, तो इसका अर्थ है कि वह अपरिग्रह के व्रत को भली

> ❧
> *जो गरीबी स्वेच्छा से स्वीकार नहीं की गई है और कुदरत की तरफ से लादी गई है, वह शान्ति नहीं दे सकती ।*
> ❧

प्रकार से समझता है । जो गरीबी स्वेच्छा से स्वीकार नहीं की गई है और कुदरत की तरफ से लादी गई है, वह शान्ति नहीं दे सकती । वही गरीबी, जो अपनी इच्छा से-अपने आप से धारण की गई है, अपरिग्रह को जन्म देती है । यही है, अपरिग्रह ।

स्वयं भगवान् महावीर की ओर देखिए । वे राजकुमार अवस्था में हैं, और संसार के श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सभी वैभव उनको प्राप्त हैं । उन्होंने प्रतिष्ठित राजकुल में जन्म लिया है, और अपनी आयु के तीस वर्ष उसी में गुजारे हैं । फिर भी उन्हें शान्ति नहीं मिली । शान्ति मिल जाती, तो वे घर क्यों छोड़ते ? यह प्रश्न हमारे सामने है । हमने इस प्रश्न को नहीं समझा, तो भगवान् महावीर के घर छोड़ने के उद्देश्य को ही नहीं समझा । और इसके विपरीत जिन्होंने यह समझा है कि शून्य-भाव से भगवान् ने घर छोड़ दिया, उन्होंने भगवान् महावीर को नहीं पहचाना ।

इस संसार में एक तरफ धन-वैभव की आग इकट्ठी हो रही है और दूसरी तरफ गहरे गड्ढ़े पड़े हुए हैं । एक तरफ लोग खा-खा कर मर रहे हैं, और दूसरी तरफ खाने के अभाव में मर रहे हैं । एक तरफ इतने कपड़े शरीर पर लदे हुए हैं, कि उनके बोझ से दबे जा रहे हैं, और दूसरी तरफ पहनने को धागा भी नहीं है । एक तरफ रहने के लिए सोने के महल बने हैं, और दूसरी तरफ झोंपड़ी भी नहीं है । इस प्रकार जो धनी हैं, वे भी मर रहे हैं और जो गरीब हैं, वे भी मर रहे हैं ।

तुम्हारे पास आवश्यकता से अधिक धन है, वैभव है और तुम चोरी नहीं करते हो, तो इतने मात्र से समस्या हल होने वाली नहीं है ।

तुम सोने के महलों में बैठकर अगर संसार को त्याग और वैराग्य का उपदेश देते हो, तो यह एक प्रकार का खिलवाड़ है। जिसके सामने छप्पन प्रकार के भोजन खाने को रखे हैं और मनुहार हो रही हैं, वह दूसरों को उपवास करने का उपदेश दे- जिन्हें तीन दिन से अन्न का दाना नहीं मिला है, उन्हें वह उपवास का महत्व बतलाए, तो वह उपदेश नहीं है, मजाक है। इस प्रकार जनता के मन में शान्ति स्थापित नहीं हो सकती। जनता के मन में विश्वास तभी आएगा, जब उपदेश देने वाला जनता के समक्ष उसी रूप में प्रस्तुत होगा और जनता की भूमिका में आकर सामने मैदान में खड़ा हो जाएगा। तभी जनता की भावना जागेगी और संसार उसके पद-चिह्नों पर चलेगा।

सोने के महलों में बैठकर अगर संसार को त्याग और वैराग्य का उपदेश देते हो, तो यह एक प्रकार का खिलवाड़ है।

और यही भगवान् महावीर का दृष्टिकोण था। उन्होंने अपनी इच्छा से राजमहलों का त्याग किया और फकीरी बाना धारण किया। भिक्षु का जीवन अंगीकार कर लिया। वस्त्र के नाम पर उन्होनें एक तार भी अपने पास नहीं रखा। यही महान् और ऐच्छिक गरीबी है।

बुद्ध ने भी यही किया। उनको भी वैभव में रहते हुए शान्ति नहीं मिली। जब भिक्षु के रूप में आ गए तो शान्ति उनके हृदय में आ विराजी। जनता ने भी उनकी बात को ध्यान पूर्वक सुना- और वह उनके पद चिह्नों पर भी चली।

मगर उपनिषद् काल के महान् उपदेशक राजा जनक का वैसा प्रभाव जनता पर न हो सका। उपनिषदों में जनक गूँज तो रहे हैं और

उनकी वाणी भी बड़ी तेजस्वी मालूम होती है। उसमें त्याग और वैराग्य की ज्वालाएँ जलती हुई मालूम होती हैं, किन्तु वे ज्वालाएँ आती हैं और बुझ जाती है। इसका कारण यही है कि उन्होंने सिंहासन पर बैठकर अद्वैतवाद और परमब्रह्म की बातें की हैं- एक शक्तिशाली और वैभवसम्पन्न नरेश के रूप में रहकर ही उन्होंने संसार को वैराग्य का उपदेश दिया, जिससे जनता पर उनके विचारों का स्थायी प्रभाव नहीं पड़ सका।

इस प्रकार भगवान् महावीर से पहले भी वेदान्त में ये बातें कही गयीं- यह संसार क्षणभंगुर है, नश्वर है; मगर वेदान्त के इस उपदेश को देने वाले स्वयं में त्याग की भावना न जगा सके। वे राजा-महाराजाओं के दरबार में पहुँचे और बदले में सोने से मढ़े सींगों वाली हजार-हजार गायें लेकर इस महान् सन्देश को देकर चले आए। यही कारण है कि वे इस महान् सन्देश की अमिट छाप जनता के हृदय में न लगा सके।

तो यह भी जीवन का कोई आदर्श है ? त्याग और वैराग्य का उपदेश देने चलें और सोने से मढ़े सींगों वाली हजारों गायें ले आएँ। जनता के मानस पर उस उपदेश का असर हो ही कैसे सकता था ? और हुआ भी नहीं। इसलिए वेदान्त के एक आचार्य को भी कहना पड़ा-

कलौ वेदान्तिनो भान्ति, फल्गुने बालका इव।

इस कलि-काल में, संसार की वासनाओं में फँसे हुए लोगों के मुँह से वैराग्य-वृत्ति की बातें सुनते हैं, तो फाल्गुन का महीना याद आ जाता है। फाल्गुन में, होली के समय बालक पागल से हो जाते हैं और कभी घोड़े पर और कभी गधे पर सवार होते हैं। फाग खेलने वालों के वेश भी चित्र-विचित्र हो जाते हैं।

उनके इस कथन का अभिप्राय यह है कि जो उपदेशक जनता

> जनता के हृदय को बदलने की कला तो त्यागी में ही होती है।

से त्याग कराना चाहता है; किन्तु स्वयं त्याग नहीं करता, उसका उपदेश जनता के हृदय पर असर नहीं डाल सकता । उनके उपदेश को सुनकर जनता उस समय उनकी विद्वत्ता की कायल तो हो जाती है, मगर स्थायी रूप से उनके मन पर उसका प्रभाव नहीं पड़ पाता । विद्वत्ता वाणी से प्रकट होती है और त्याग आचरण से । कोई विद्वान् है, बाल की खाल निकाल रहा है, तो वह अपने प्रबल तर्कों से दुनियाँ का मुँह बन्द कर सकता है, परन्तु जनता के हृदय को नहीं बदल सकता । जनता के हृदय को बदलने की क्षमता तो त्यागी में ही होती है ।

जो जिस चीज को स्वयं नहीं छोड़ सकता, वह दूसरों से उसे कैसे छुड़ा सकता है ?

भगवान् महावीर ने पहले स्वयं जनता के सामने अपना उदाहरण रखा । जो एक दिन महलों में रहते थे और प्रातःकाल होते ही जिनसे हजारों आदमी दान पाकर मुक्त कंठ से जिनकी प्रशंसा करते थे, उन्होंने दीक्षा लेने का विचार किया । जब विचार किया, तो दीक्षा लेने से पहले अपना सारा वैभव भी लुटा दिया और इस प्रकार हल्के होकर जनता के सामने मैदान में आए । राजकुमार से भिक्षुक बनकर जनता के बीच में आए तो एक ही आवाज में हजारों आदमी उनके पीछे चल पड़े ।

मतलब यह है कि परिग्रह वृत्ति का त्याग करके ऐच्छिक गरीबी को धारण किए बिना ही यदि कोई संसार की समस्याओं को हल करना चाहता है, तो केवल निराशा ही उसके पल्ले पड़ सकती है । बिना त्याग के जीवन शून्यवत् है ।

जन-मानस पर साधक के निर्मल विचार और पवित्र आचार का ही प्रभाव पड़ता है।

मैं साधु और गृहस्थ दोनों के विषय में कह रहा हूँ। साधु यदि अपनी भूमिका में रहना चाहते हैं, तो उन्हें पूर्ण रूप से अपरिग्रह का महाव्रत धारण करना ही होगा। फिर बाहर से ही अपरिग्रही होने से काम नहीं चलेगा, अन्तर में भी उसे अपरिग्रही बनना पड़ेगा। परिग्रह की वासना न रहने का लक्षण यह है कि व्यक्ति की निगाह में राजा और रंक तथा धनवान् और निर्धन, एक रूप में दिखाई देने चाहिए। जो किसी भी धनी के सामने नतमस्तक हो जाता है, उसकी खुशामद करता है, और हृदय में उनकी महत्ता का अनुभव करता है, तो समझना चाहिए कि उसके भीतर पूरी अपरिग्रह-वृत्ति का उदय नहीं हुआ है। धन की महत्ता को वह भूला नहीं है। वह 'सम-तृण-मणि' का विरुद नहीं प्राप्त कर रहा है। जिसका जीवन पूर्ण रूप से निस्पृह बन जाता है, वह धन, वैभव से कभी प्रभावित नहीं होता, और जो धन-वैभव से प्रभावित नहीं होता, वही जगत् को अपने उच्च आचार और पवित्र विचार से प्रभावित करता है। जन-मानस पर साधक के निर्मल विचार, और पवित्र आचार का ही प्रभाव पड़ता है।

साधु के अतिरिक्त दूसरे साधक गृहस्थ-समाज में से होते हैं। गृहस्थ पूरी तरह परिग्रह का त्याग नहीं कर सकता, तो उसे सीमा बनानी चाहिए। अपनी इच्छाओं को कम करना चाहिए। खाना होगा तो इतना खाऊँगा, पहनना होगा, तो इतना पहनूँगा, मकान रखना होगा, तो इतने रखूँगा और पशु रखने होंगे, तो इतने रखूँगा इस प्रकार अपने जीवन के

चारों ओर दीवारें खड़ी कर लेने पर ही वह आगे बढ़ सकेगा। यही है- इच्छाओं का परिमाण।

एक राजा और एक मन्त्री था, और दोनों ही पुत्रहीन। जब राजा और मन्त्री अकेले बैठते, तब घर-गृहस्थी की बातें चल पड़ती। तब राजा कहता- देखो, हम दोनों ही के घरों में अंधेरा है। पुत्र-हीन घर, घर नहीं होता। आखिर, राजा और मन्त्री ने देवी-देवताओं की मनौती की। इधर-उधर दौड़ धूप की, मगर कोई नतीजा न निकला।

जिस नगर में राजा रहता था, उस नगर में एक सन्त आए। सन्त बड़े ज्ञानी और विचारवान् थे। उनकी वाणी का असर जनता पर पड़ा और हजारों लोग उनके चरणों में झुकने लगे। राजा ने भी सुना कि उसके नगर में किसी पहुँचे हुए संत का आगमन हुआ है, तो उसने मन्त्री से कहा- अगर वह सन्तान प्राप्ति का कोई उपाय बतला दें, तो हमारे सभी मनोरथ पूरे हो जाएँ। मन्त्री की भी यह अभिलाषा थी।

दोनों एक दिन सन्त के पास पहुँचे। राजा ने सन्त से निवेदन किया- आपके अनुग्रह से हमारे यहाँ किसी चीज की कमी नहीं है; किन्तु पुत्र का अभाव हृदय में खटक रहा है, और इस कारण संसार का सारा वैभव भी हमें आनन्द नहीं दे रहा है। पुत्र के अभाव में हृदय में भी अँधेरा है, घर में भी अँधेरा है और राज्य में भी अँधेरा है। आपकी दया हो जाए और पुत्र का मुँह देख सकूँ, तो मेरा जीवन आनन्दमय हो जाय। मेरे मन्त्री की भी यही स्थिति है। दीनानाथ ! हम आपकी दया के भिक्षुक बनकर आपके चरणों में उपस्थित हैं।

सन्त ने कहा- पुत्र चाहिए, तो पहले पिता का हृदय पा लो। पिता का हृदय न मिला और पुत्र मिल गया, तो क्या लाभ होगा ? न

पुत्र को सुख मिल सकेगा, न तुम को ही सुख प्राप्त हो सकेगा । अतएव हे राजन् ! पहले पुत्र के लिए चिन्ता न करो, पितृ-हृदय पाने के लिए चिन्ता करो ।

राजा ने कहा- महाराज ! पुत्र के अभाव में कोई पिता नहीं होता और जब तक पिता नहीं है, तब तक पिता का हृदय वह कहाँ से लाए ? आपकी कृपा हो जाए तो मैं पिता का हृदय भी प्राप्त कर लूँ । पुत्र के होने पर ही तो पिता का हृदय पाया जा सकता है ।

तब सन्त ने सहज मधुर स्वर में राजा से पूछा- यह समस्त प्रजा तुम्हारी सन्तान है या नहीं ? जब से तुम सिंहासन पर बैठे हो, प्रजा के माँ-बाप कहलाते आ रहे हो और उसमें गौरव तथा आनन्द मानते रहे हो, फिर भी प्रजा के प्रति तुम्हारे अन्तःकरण में सन्तान का भाव न पैदा हुआ, तो अब और सन्तान पाकर क्या करोगे ? पा भी लोगे, तो उसके प्रति पुत्र-भाव कैसे उत्पन्न कर सकोगे ? अतएव पहले हृदय में पिता का भाव पैदा करो । तब मैं तुमको बना-बनाया पुत्र दे दूँगा । वह तुम्हारा नाम रोशन करेगा ।

इसके पश्चात् उस दार्शनिक सन्त ने कहा- सारे नगर में घोषणा करवा दो कि कल भिखारियों को दान दिया जाएगा और उनकी इच्छा-पूर्ति की जाएगी ।

उस सन्त की इस आज्ञा के सम्मुख राजा ने अपना शीश झुका दिया । सन्त की बात को स्वीकार किया ।

उसी दिन नगर भर में ढ़िंढ़ोरा पिट गया । भिखारी तो भिखारी ही ठहरे । जब सुना कि कल राजा दान देगा, तो फूले न समाए ।

खूब धन मिलेगा, वारे-न्यारे हो जाएँगे ! फिर क्या था । दूसरे दिन हजारों की संख्या में भिखारी एक बाड़े में इकट्ठे हो गए । राजा जैसा दाता हो, तो फिर भिखारियों की क्या कमी ?

> *सामान्य होकर ही सामान्य को समझा जा सकता है ।*

राजा अपने मंत्री को साथ में लेकर, शान के साथ वहाँ जाकर खड़ा हो गया । तब उस विद्वान् सन्त ने कहा- यह राजशाही और मंत्रीशाही रहने दो और साधारण आदमियों की तरह खड़े हो जाओ । सामान्य होकर ही सामान्य को समझा जा सकता है ।

दान का कार्य प्रारम्भ हुआ । बासी रोटियों के टुकड़े भिखारियों को मिलने लगे । भिखारी देख-देख कर हैरान रह गए । इतनी बड़ी घोषणा के बाद यह दान ? और वह भी राजा की ओर से ? मगर क्या किया जा सकता है ? राजा से लड़ा भी तो नहीं जा सकता । जो भाग्य में है, वही तो मिलेगा ।

भिखारी रोटियों के टुकड़े ले-लेकर बाहर निकलने लगे । सन्त फाटक पर खड़े थे । भिखारी निकले तो सन्त ने उनसे कहा- यह रोटी का टुकड़ा मुझे दे दो, तो मैं तुम्हें राजा बना दूँ ।

भिखारी कहने लगे- 'महात्मन् ! क्यों उपहास करते हो ?' कोई भी भिखारी अपना रोटी का टुकड़ा देने को तैयार न हुआ । वे समझ रहे थे कि राजा बनाने का लोभ देकर यह हजरत रोटी का टुकड़ा भी छीन लेना चाहते हैं ।

भिखारी तो आखिर भिखारी ही ठहरे, उनकी कल्पना दूर तक कैसे पहुँच सकती थी ? और वे अपने-अपने रोटी के टुकड़े को छाती

से लगाए वहाँ से जाने लगे । सन्त ने देखा- कोई भी अपना पूरा टुकड़ा देने को तैयार नहीं है ! तब उन्होंने उनसे कहा- अच्छा भाई, आधा टुकड़ा ही दे दो । दे दोगे तो मन्त्री बना दूँगा ।

मगर गली के भिखारी को मन्त्री-पद का स्वप्न आता, तो कैसे आता ? भिखारी निकलते गए और किसी ने आधा टुकड़ा भी नहीं दिया । किसी को विश्वास ही न होता था ।

कई भिखारियों के निकल जाने पर एक लड़का आया । उसकी आँखों में एक तरह की विलक्षण ज्योति थी, किन्तु दुर्भाग्य ने उसको भिखारी बना दिया था । लेकिन उसमें सोचने-समझने का मादा तो था ही । वह फाटक से निकलने लगा तो उससे भी पूछा गया- क्या मिला है ?

लड़का- यह रोटी का टुकड़ा ! जो हमारी तकदीर में था, मिल गया । आखिर भिखारी के भाग्य में रोटी के टुकड़े ही तो होंगे । हीरे-जवाहरात कैसे मिलते ? जो भी मिला, ठीक मिला ।

सन्त ने सोचा- इसकी वाणी में त्याग का रस आ गया है । यह अपनी मौजूद परिस्थितियों के अनुकूल अपने आपको ढ़ालने का प्रयत्न कर रहा है । इसे भविष्य पर भी विश्वास होना चाहिए ।

और सन्त ने उससे कहा- अच्छा, रोटी का टुकड़ा मुझे दे दो । मैं तुम्हें राजा बना दूँगा । लड़के ने गौर से देखा ।

लड़के ने कहा- राजा बनाएँ या न बनाएँ, टुकड़ा तो ले ही लीजिए । मैं तो बड़ी आशा लेकर यहाँ आया था; पर इस टुकड़े पर भी

मुझे सन्तोष है । अगर आपको इसकी जरूरत है तो इसे आप ले लीजिए । मेरी चिन्ता जरा भी न करें ।

उसके बाद जो दूसरे आये, उनसे सन्त ने आधा-आधा टुकड़ा मांगा । किन्तु कोई देने को तैयार नहीं हुआ ।

आखिर फिर एक लड़का निकला । सन्त ने उससे भी आधा टुकड़ा मांगा और मन्त्री बना देने को कहा । लड़के ने कहा- आधा टुकड़ा देने में कोई हर्ज नहीं है । और उसने टुकड़ा तोड़ कर आधा सन्त को दे दिया । उस लड़के को भी पहले वाले लड़के के पास खड़ा कर दिया गया ।

सब भिखारी चले गए तो सन्त ने राजा से कहा- राजा और मन्त्री दोनों के योग्य पुत्र मिल गए हैं । राजा में विराट् भावनाएँ होनी चाहिए, सर्वस्व त्याग करने की वृत्ति होनी चाहिए और प्रिय से प्रिय वस्तु को न्यौछावर करने का हौसला होना चाहिए । ये सब बातें इस लड़के में दिखाई देती हैं । रोटी का टुकड़ा इसके लिए बड़ी चीज थी, इसका सर्वस्व था, परन्तु इसने बिना किसी आना-कानी के उसे त्याग दिया है । दूसरे भिखारी उसी टुकड़े पर अटके रहे । सोचने लगे कि टुकड़ा दे देंगे, तो हम क्या खाएँगे । पर इसने ऐसा विचार नहीं किया । अतएव यह राजा बनने योग्य है ।

राजा में विराट् भावनाएँ होनी चाहिए, सर्वस्व त्याग करने की वृत्ति होनी चाहिए, और प्रिय से प्रिय वस्तु को न्यौछावर करने का हौसला होना चाहिए।

दूसरे लड़के की राजा बनने की भूमिका नहीं है, किन्तु उसने अपने हिस्से में से आधा टुकड़ा दे दिया है। मन्त्री बनने वाले में, राजा की अपेक्षा आधी योग्यता होनी चाहिए और यह योग्यता इसमें मौजूद है। अतएव दूसरा लड़का मन्त्री बनने योग्य है।

तो सन्त के कहने का तात्पर्य यह है कि संसार की जो वासनाएँ है, वे जूठे टुकड़े हैं। उन्हें छाती से चिपटाए क्यों फिर रहा है ? उन्हें पूरी त्याग देगा, तो तुझे सन्त की गद्दी अर्थात् साधुता प्राप्त हो जाएगी। और यदि उन वासनाओं को पूरी तरह त्यागने की शक्ति नहीं है, तो कम से कम आधी तो त्याग ही दे। वासनाओं का कुछ भाग भी त्याग देगा, तो सन्त की गद्दी न सही, श्रावक की पदवी तो मिल ही जाएगी।

जीवन में अनाकुलता ही तो सच्चा सुख एवं सच्ची शान्ति है।

पूर्ण त्याग साधु की भूमिका है, और इच्छाओं को सीमित करना अर्थात् जितनी आवश्यकता है, उससे अधिक का त्याग कर देना, श्रावक की भूमिका है। और यहाँ आवश्यकता का अर्थ है- जीवन की वास्तविक आवश्यकता इच्छा को ही आवश्यकता मान लेना भूल होगी। जिसके अभाव में जीवन ठीक तरह निभ न सकता हो, वही जीवन की वास्तविक आवश्यकता समझी जानी चाहिए।

जिस मनुष्य के जीवन में इन दो चीजों में से एक चीज आ जाती है, उसका जीवन कल्याणमय बन जाता है। वह इसी जीवन में निराकुलता और सन्तोष का अपूर्व आनन्द अनुभव करने लगता है।

जीवन में अनाकुलता ही तो सच्चा सुख एवं सच्ची शान्ति है । लेकिन जो व्यक्ति परिग्रह का त्याग अथवा परिमाण कर लेता है, वही तो साधक बन सकता है ।

ब्यावर (अजमेर)

17.11.50

जब मनुष्य संसार में संग्रह करने के लिए दौड़ लगाता है; तब अपने राष्ट्र, समाज और परिवार को भूल जाता है और कभी-कभी अपने आपको भी भूल जाता है । उसे खाने की आवश्यकता है, परन्तु खाता नहीं, विश्रान्ति की आवश्यकता है; किन्तु विश्रान्ति नहीं लेता । बस कमाना और कमाते जाना ही उसके जीवन का लक्ष्य है । जो अपने आपको भूल जाता है, वह परिवार को कैसे याद रखेगा ? समाज और राष्ट्र की तो बात ही दूर ! ... यह एक महान् आश्चर्य है ।

अपरिग्रह और दान

अपरिग्रह का सिद्धान्त जैन धर्म का मूल प्राण है, और संसार भर के सभी धर्मों का हृदय है ।

जीवन के सम्बन्ध में एक अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न यह है कि हम जिन्दगी की जो यात्रा कर रहे हैं, उसमें अधिक से अधिक बोझ लाद कर चलें या कम से कम बोझ लेकर चलें ? अधिक बोझ लाद कर यात्रा करने से यात्रा सुखकर होगी या कम बोझ लेकर चलने से यात्रा सुखकर होगी ?

आप किसी यात्रा पर घर से रवाना हुए और बहुत सारा सामान लाद कर चले । आपने सोचा, रास्ते में बीमार हो जाएँगे, तो दवाई साथ में होनी चाहिए । फिर सोचा- न जाने कौन-सी बीमारी घेर ले । अतएव सभी रोगों की दवाइयाँ साथ रहनी चाहिए । इस प्रकार एक खासा अस्पताल साथ में बांध लिया । फिर खाने-पीने की समस्या आई । आपने खाने-पीने की चीजें भी साथ में बांध ली । खाना पकाने के सभी साधन भी रख लिए । फिर वस्त्रों का ध्यान आया और वस्त्रों का एक ढ़ेर भी रख लिया । कहीं सर्दी ज्यादा पड़ने लगी तो क्या होगा ? यह सोच कर रजाई ले ली और ऊनी कपड़े भी बांध लिए किन्तु सर्दी न हुई और गर्मी लगी तो ये कपड़े क्या काम आएँगे ? यह सोच कर बारीक कपड़े भी रख लिए । फिर विचार आया- एक चीज चोरी चली गई तो ? तो दूसरी काम में आयेगी, यह सोचकर हरेक चीज दोहरी बांध ली ।

इस प्रकार कल्पनाओं पर कल्पनाएँ करके आपने सामान का ढ़ेर कर लिया और यह समझे कि यह सब हमारी आवश्यकताएँ हैं । फिर आप वह सब सामान लाद कर चले तो क्या आप सुखपूर्वक यात्रा कर सकेंगे ? आपके कदम हल्के पड़ेंगे या भारी ? आपके कदम भारी होंगे, और थोड़ी देर में हांफने लगेंगे । कदम-कदम पर बैठने का प्रयत्न करेंगे और पसीने से तर हो जाएँगे । सम्भव है तब, आप किसी दूसरे पर अपना बोझ लादने का प्रयत्न करें ।

इसके विपरित दूसरा आदमी चलता है और केवल अपनी आवश्यकता की ही चीजें लेकर चलता है, किन्तु आवश्यकताओं की कल्पना नहीं करता । सहज रूप में जो आवश्यकताएँ हैं, उन पर तो वह विचार करता है, उनके साधन भी जुटा कर चलता है । पर कल्पना से आवश्यकताएँ उत्पन्न करके बोझा नहीं ढ़ोता है । तो उसके कदम हल्के पड़ेंगे, वह सुखपूर्वक यात्रा कर सकेगा और आराम से अपनी मंजिल को पा लेगा ।

जो बात इस यात्रा के लिए है, वही जीवन-यात्रा के लिए भी है । संसार में आए हैं तो बैठ नहीं गए हैं और जब से जीवन ग्रहण किया है, तभी से जीवन गतिशील है । किन्तु प्रश्न यह है कि जब वह बचपन से जवानी में चला तो इच्छाओं का अधिक बोझ लाद कर चला या हल्का वजन लेकर चला ? और इसी प्रश्न में से अपरिग्रह-व्रत निकल कर आता है ।

जो जीवन की आवश्यकताएँ नहीं हैं, जो जबरदस्ती ऊपर से लादी गई हैं, वह सब जीवन का भार है।

जो जीवन की आवश्यकताएँ नहीं हैं, जो जबरदस्ती ऊपर से लादी गई हैं, वह

सब जीवन का भार है । चाहे कोई व्रत हो, नियम हो या प्रत्याख्यान हो, यदि वह सहज भाव से उद्भूत नहीं हुआ है और बलात् लादा गया है, तो वह भी जीवन के ऊपर भार ही है । यों तो अहिंसा, सत्य आदि सभी व्रत भी जीवन का महान् कल्याण करने वाले हैं और जीवन की समस्याओं का हल करने के लिए बड़े महत्वपूर्ण साधन हैं, पर वे बलात् नहीं लादे जाते, ऊपर से नहीं लादे जाते, बल्कि अन्तरंग से ही उद्भूत होते हैं । ऐसा न हुआ और ऊपर से लादे गए तो समझ लीजिए कि वे पानी में पड़े हुए पत्थर हैं ।

पत्थर पानी में डाला जाता है, तो वहाँ पड़ा रहता है और वर्षों तक पड़ा-पड़ा भी घुलता नहीं है । वह पानी का अंग नहीं बनता । तो जब तक पत्थर पानी में घुलकर उसी के रूप में न मिल जाए, पानी न हो जाए, तब तक पानी और पत्थर अलग-अलग हैं । हाँ, अगर मिश्री की डली पानी में डालोगे तो वह तुरन्त घुलकर पानी के साथ मिल जायेगी, एक रस हो जायेगी और उस पानी से एक मधुर पेय तैयार हो जायेगा, जो पीते ही शान्ति प्रदान करेगा ।

यही बात जीवन की साधना के सम्बन्ध में है । जो साधना जीवन में पत्थर की तरह पड़ी है और जीवन में घुल-मिल नहीं रही है, जीवन के साथ एकरस नहीं हो रही है, वह जीवन की वास्तविक साधना नहीं है । पुराने जमाने में ऐसी साधनाएँ बहुत की जाती थीं, किन्तु जैन धर्म ने उनका विरोध किया । वे साधनाएँ केवल कष्ट देने के लिए थीं, उल्लास और आनन्द देने के लिए नहीं । इसीलिए जैन धर्म ने देह-दंड को कोरा कायाक्लेश कह कर उसके प्रति अपनी अरुचि प्रकट की ।

जीवन में सच्चा चारित्र-बल उत्पन्न होना चाहिए और जब तक

> *जीवन में सच्चा चारित्र-बल उत्पन्न होना चाहिए और जब तक वह नहीं होगा, मनुष्य का कल्याण नहीं होगा।*
>
> *ऊपर से लादी गयीं साधनाएँ जीवन को मंगलमय नहीं बना सकतीं।*

वह नहीं होगा, मनुष्य का कल्याण नहीं होगा । इस प्रकार ऊपर से लादी गयीं साधनाएँ जीवन को मंगलमय नहीं बना सकतीं, और ऊपर से, कल्पना से लादी हुई आवश्यकताएँ भी जीवन को सुखमय नहीं बना सकतीं । जो पथिक जितनी ही आवश्यकताएँ कम करके और जितना हल्का होकर जीवन की यात्रा तय करेगा, वह उतनी ही अधिक सरलता से प्रगति कर सकेगा ।

अहिंसा, सत्य आदि की साधनाओं को हमें जीवन का अंग बनाना है । और उन्हें जीवन का अंग बनाने में जो कठिनाइयाँ हैं उन्हीं को हल करने के लिए अपरिग्रह-व्रत की जीवन में आवश्यकता है । यह साधक-जीवन का अनिवार्य नियम है ।

वे कठिनाइयाँ क्या हैं ? यही कि हम मन की हर मांग स्वीकार कर लेते हैं, तथा संग्रह कर लेते हैं और संग्रह करते-करते इतनी दूर चले जाते हैं कि उसकी मर्यादा को भूल जाते हैं और खयाल ही नहीं रहता कि कहाँ तक संग्रह करें ? इसके अतिरिक्त जो संग्रह किया है, उसका क्या और कैसे उपयोग करना है ? यह भी नहीं सोचते ।

संग्रह की सीमा और संग्रह का उद्देश्य ध्यान में रहता है तो हम समझते हैं कि हम जीवन के आदर्श को निभा रहे हैं, किन्तु जब इन दोनों बातों को भूल कर केवल संग्रह ही संग्रह करते चले जाते हैं, तब

जीवन आदर्श-विहीन होकर भारभूत बन जाता है । यह भी इकट्ठा किया, वह भी इकट्ठा किया और सारी जिन्दगी इकट्ठा करने में ही समाप्त कर दी, तो इकट्ठा करने का प्रयोजन क्या हुआ ? वह इकट्ठा करना जीवन के किस काम आया ? उसने जीवन को कितना आगे बढ़ाया ?

ऐसा संग्रह-परायण मनुष्य जब एक जीवन को त्याग कर दूसरे जीवन के लिए यात्रा करने की तैयारी करता है तब उसका मन अत्यन्त व्यथित होता है ।

महमूद गजनवी वगैरह भारत में आए और लूट-लूट कर चले गए । उन्होंने सोने के पहाड़ और हीरे-जवाहरात के ढ़ेर लगा लिए, मगर उनका उपयोग न कर सके । जब उनके मरने का समय निकट आया तो बोले- वे ढ़ेर हमारे सामने लाओ । जब ढ़ेर सामने आए तब उस समय अपने जीवन का महत्वपूर्ण प्रश्न उनके सामने आया कि ये ढ़ेर क्यों किए ? ये ढ़ेर हमारे क्या काम आए ? बस, यही जीवन का महत्वपूर्ण प्रश्न है । और जिसके जीवन में जितना जल्दी यह प्रश्न उपस्थित हो जाता है, वह उतना ही बड़ा भाग्यशाली है ।

जब मनुष्य संसार में संग्रह करने के लिए दौड़ लगाता है; तब अपने राष्ट्र, समाज और परिवार को भूल जाता है और कभी-कभी अपने आपको भी भूल जाता है ।

जब मनुष्य संसार में संग्रह करने के लिए दौड़ लगाता है; तब अपने राष्ट्र, समाज और परिवार को भूल जाता है और कभी-कभी अपने आपको भी भूल जाता है । उसे खाने की आवश्यकता है, परन्तु खाता नहीं, विश्रान्ति की आवश्यकता है; किन्तु विश्रान्ति नहीं लेता । बस कमाना,

और कमाते जाना ही उसका काम रह जाता है । उसके जीवन का ध्येय जोड़ना है, और वह जोड़ना क्यों है, यह बात उससे न पूछिए; यह उसे मालूम नहीं । केवल संग्रह ही उसके जीवन का लक्ष्य है ।

जो अपने आपको भूल जाता है, वह परिवार को कैसे याद रखेगा ? परिवार में कोई बीमार है, तो उसे चिकित्सा कराने का अवकाश नहीं है । बच्चों की शिक्षा के सम्बन्ध में सोचने का उसे अवकाश नहीं है । पत्नी की बीमारी का इलाज कराने का उसके पास समय नहीं है । इस प्रकार जब वह परिवार का ही पालन-पोषण नहीं कर सकता, तब समाज और राष्ट्र की तो बात ही दूर ? उसके लिए इनका मानों अस्तित्व ही नहीं है । और यह कितनी विचित्र बात है । यह एक महान् आश्चर्य है ।

हमने एक जगह चौमासा किया । जहाँ हम ठहरे थे, पास ही एक बड़ी हवेली थी । उसके मालिक विदेश में रहते थे और हवेली की देख-रेख के लिए एक पहरेदार रहता था । उसको वेतन मिलता था और कुछ लोग कहते थे कि उसकी अपनी निजी पूँजी भी है; लेकिन दर्शनार्थी आते थे, तो उनसे भी पैसा माँगता था और कहता था कि मेरी स्थिति खराब है ।

वह बाजार से चने ले आता और हमारे सामने बैठकर खाता, जिससे कि हमें उसकी स्थिति का ध्यान आ जाए ! हमारे पूछने पर कहता- क्या करूँ महाराज ! कुछ खाने को नहीं है ।

पहले तो हमारे मन में भी दया आई कि यह बेचारा कितना गरीब है ! इसकी हालत कितनी खराब है कि बुढ़ापे में भी चने चबाने पड़ते हैं ! फटे-पुराने कपड़े पहनने पड़ते हैं ! पर बाद में मालूम हुआ

> *निर्धनता बुरी नहीं, कृपणता बुरी है।*

कि इसकी इस दशा का कारण गरीबी नहीं, कंजूसी है । निर्धनता बुरी नहीं, कृपणता बुरी है ।

थोड़े दिन बाद ही वह बीमार पड़ गया । हवेली की पौली में पड़ा रहा । न कुछ दवा ही ली और न कुछ इलाज ही कराया । वह कभी बेहोश हो जाता और कभी होश में आ जाता । उसके आगे-पीछे भाइयों ने कहा- इन्तजाम करो, इसका अन्तिम समय निकट है ।

फिर कुछ भाइयों ने सोचा- मरने को तो यह मरेगा और फिर हमारी आफत आ जाएगी ! सरकार कहेगी इसका धन कौन ले गया ?

यह सोचकर उन्होंने सरकार को खबर दे दी । खबर पाकर तहसीलदार आया और उसने ताला तोड़ा तो, उसके पास पाँच हजार की सम्पत्ति निकली ! कुछ नकद और कुछ जेवर था । तहसीलदार भी चकित रह गया । इतनी सम्पत्ति इकट्ठी कर रखी है और हाल यह है ।

तहसीलदार ने कहा- जितना दान करना हो, कर दो; पीछे जो सम्पत्ति रहेगी, उसका हम इन्तजाम करेंगे ।

लोगों ने भी प्रेरणा दी- भाई, तुम्हारे आगे-पीछे कोई नहीं है । अन्तिम समय आ पहुँचा है । जो कुछ करना चाहो, कर लो । यह अवसर फिर कभी आने वाला नहीं ।

वह चिढ़कर कहने लगा- क्या मुझे आज ही मार डालना चाहते हो ? जिन्दा रहूँगा तो क्या खाऊँगा ?

लोगों ने कहा- अरे, अभी तक क्या खाया है ? जो अब तक

खाते रहे हो, वही आगे खाना। अब तक तो जोड़ते ही जोड़ते रहे हो! तुमने खाया तो कुछ भी नहीं।

तहसीलदार ने एक रुपया अपने पास से उसके हाथ पर संकल्प करने को रख दिया, तो उसने उसे लेकर अंटी में रखने का प्रयत्न किया। आखिर वह मर गया और सरकार ने उसके धन पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार के संग्रह का लाभ क्या है?

कुछ लोगों का ऐसा ही दृष्टिकोण होता है। वे समाज और राष्ट्र में से कट कर अपने आप में ही सीमित हो जाते हैं। और कुछ लोग उनसे भी गये-बीते हैं। वे अपने आपसे भी निकल जाते हैं। और अपने जीवन को भी नहीं देखते, शरीर की आवश्यकताओं को भी पूर्ण नहीं करते हैं। उनका काम केवल संचय ही संचय करना रह जाता है। वह शरीर से भी भिन्न किसी और तत्त्व में बँध जाता है।

वह तत्त्व परिग्रह है और मन की वासना है, वही मनुष्य को तंग करती है। प्रश्न भूखे मरने का नहीं, वास्तव में अपरिग्रह की भावना मन में नहीं आई है। अपरिग्रह की भावना जब तक नहीं आती, तब तक इन्सान बाहर नहीं निकलता है, अपने टूटे-फूटे खंडहर से बाहर नहीं आता है। तो, जब तक मनुष्य टूटे मिट्टी के पिण्ड में से बाहर न आ जाएगा- तब तक काम नहीं चलेगा।

कुछ विचारकों का मत है कि इच्छाओं का परिमाण भले न किया जाए, मगर इच्छाएँ कम रखी जाएँ, कमाई बन्द न की जाए, किन्तु कमाई कर-कर के दान देते जाएँ। वे समझते हैं कि दुनियाँ भर की लक्ष्मी कमा कर दान दे देना बड़ा भारी पुण्य है। किन्तु, भगवान् महावीर की दृष्टि बड़ी विशाल है। उस दृष्टि के अनुसार पुण्य का यह ढंग प्रशस्त नहीं

है । एक तरफ लोगों से छीना जाए और दूसरी तरफ उन पर बरसाया जाए, तो इसके परिणामस्वरूप अहंकार का पोषण होता है । अर्थात् जनता से ही लेना और फिर जनता को ही देना, सर्वस्व का दान नहीं है । और फिर लेना बहुत है और देना कम है, लिये में से भी बचा लेना है, तो इसका अर्थ यही है कि छीना-झपटी की जा रही ! यह दान नहीं कहा जा सकता ।

> *दान पैर में कीचड़ लगने पर धोना है और अपरिग्रह कीचड़ न लगने देना है।*

जैनधर्म ने दान को भी महत्व दिया है; परन्तु दान से पहले अपरिग्रह को महत्व दिया है । दान पैर में कीचड़ लगने पर धोना है और अपरिग्रह कीचड़ न लगने देना है । नीतिकार कहते हैं- **प्रक्षालनाद्धि पंकस्य, दूरादस्पर्शनं वरम् ।** कीचड़ को धोने की अपेक्षा, न लगने देना ही अच्छा है ।

इसका अर्थ यह नहीं कि पैर में कीचड़ लग जाए तो लगे ही रहने देने का समर्थन किया जा रहा है । असावधानी से या प्रयोजन विशेष से कीचड़ लग जाने पर उसे धोना ही पड़ता है, किन्तु ऐसा करने की अपेक्षा श्रेष्ठ तरीका कीचड़ न लगने देना ही है । इसी प्रकार इच्छाओं का निरोध करना और अपरिग्रह व्रत को धारण करना उत्तम मार्ग है, किन्तु जब इस मार्ग पर चलने की तैयारी नहीं है और धन का उपार्जन करना नहीं छूटता है, अथवा अपरिग्रह व्रत को अंगीकार करने से पहले जो संचय कर लिया गया है, तो दान कर देना भी अच्छा ही है । दान में अहंकार का खतरा है और अपरिग्रह में ऐसा कोई खतरा नहीं है । लेकिन त्याग का अहंकार भी बुरा है ।

अतएव जैनधर्म का यह आदेश है कि अपनी इच्छाओं के आगे

ब्रेक लगा दो और जीवन की गाड़ी जो अमर्यादित रूप में चल रही है, दूसरों को कुचलती हुई चल रही है, उसे रोक दो या मर्यादित रूप में चलने दो। और जब उसे मर्यादित करो, तो ऐसा मत करो कि पहले तो किसी को घायल करो और फिर उसकी मरहम पट्टी करो। यह जीवन का आदर्श नहीं है।

पहले तो किसी को घायल करो और फिर उसकी मरहम पट्टी करो- यह जीवन का आदर्श नहीं है।

सुनने में आया कि पुराने जमाने में मिमाई- मानव-रक्त से बनने वाली एक औषधी विशेष (मरहम) के लिए इस प्रकार की प्रक्रिया अपनाई जाती थी, कुछ लोग किसी व्यक्ति को पकड़ कर उल्टा लटका देते थे और उसके सिर में घाव कर देते थे। उसके सिर से खून की एक-एक बूँद टपका करती थी और नीचे रखी हुई कढ़ाई में गिरा करती थी। इस प्रकार एक-एक बूँद खून निकाला जाता था और खून निकाल लेने के बाद उसे छोड़ दिया जाता था मरने नहीं दिया जाता था। उसके बाद उसे फिर अच्छा खाना खिलाया जाता और जब फिर खून तैयार हो जाता, तब फिर उसी प्रकार लटका कर खून निकाला जाता था।

उपर्युक्त उदाहरण का तात्पर्य यह है कि पहले किसी पर घाव करना और फिर मरहमपट्टी करना, साधना का कोई महत्वपूर्ण अंग नहीं है। छीना-झपटी करो, ठगाई करो और फिर वाह-वाही पाने के लिए दान करो और दान देकर अहंकार करो और अहंकार से अपने आपको कलुषित करो। इसकी अपेक्षा अपरिग्रह व्रत को ले लो, त्याग कर दो, छीना-झपटी बन्द कर दो, यही तरीका श्रेष्ठ है। दान से त्याग सदा श्रेष्ठ रहा है।

अगर आप इतने ऊँचे नहीं उठे हैं कि जीवन की आवश्यकताओं की पूरी तरह उपेक्षा कर दें और उसके लिए किसी वस्तु पर निर्भर न रहे, तो अपनी आवश्यकताओं की सूची तो तैयार कर ही सकते हैं। ऐसा नहीं होना चाहिए कि उठे और दौड़ लगाते रहे और धन जोड़ते रहे और नयी-नयी आवश्यकताओं की तालिका का पता ही न लगा। यह भी न समझ पाए कि जीवन की आवश्यकताएँ क्या हैं ? ऐसा तो नहीं होता कि कोई बाजार में जाए और उसे यही मालूम न हो कि मेरी आवश्यकताएँ क्या हैं ? कोई सारे बाजार को तो समेट लाने का प्रयत्न नहीं करता। होता यही है कि घर से निकलने के पहले मनुष्य अपनी आवश्यकताओं का विचार कर लेता है, मुझे अमुक चीजें चाहिए- ऐसा निश्चय कर लेता है और फिर बाजार में निकलता है।

जीवन के बाजार में भी जीवन की तालिका बनाकर चलना चाहिए और जो इस प्रकार चले हैं, वही अपरिग्रही हैं। यही श्रावक का अपरिग्रह व्रत है, इच्छा परिमाण व्रत है।

भगवान् महावीर के पास कोई साधक आया, सम्राट् आया या गरीब आया, उन्होंने यही कहा- अपने जीवन की आवश्यकताओं को समझो। आज तक नहीं समझ सके हो, अंधे की तरह दौड़ रहे हो। आखिर बाजार में पागलों की तरह नहीं दौड़ना है, बुद्धि लेकर चलना है।

जीवन के बाजार में भी सबसे पहले अपना दृष्टिकोण निर्धारित कर लेना है। क्या करना है और क्या-क्या हमारी आवश्यकताएँ हैं, यह सोच लेना है और सोच लेने के बाद आवश्यकता से अधिक नहीं लेना है। ऐसा करने पर ही जीवन के बाजार में पैठ हो सकती है। ऐसा करने से पहले अपने मन से सलाह लेनी चाहिए और उसे राजी कर लेना चाहिए।

> जो अपनी आवश्यकताओं पर विचार नहीं करता, उन्हें निर्धारित नहीं करता, आँखें मींच कर उनकी पूर्ति करने में ही जुटा रहता है, वह अपना समूचा जीवन बर्बाद कर देता है ।

इस प्रकार आवश्यकताओं का पता लगाकर शोषण बन्द कर देना चाहिए । जो मनुष्य इस तरीके से चलता है, उसी का जीवन कल्याणमय बन सकता है, और वही जीवन का वास्तविक लाभ उठा सकता है । इसके विपरीत, जो अपनी आवश्यकताओं पर विचार नहीं करता, उन्हें निर्धारित नहीं करता, आँखें मींच कर उनकी पूर्ति करने में ही जुटा रहता है, वह अपना समूचा जीवन बर्बाद कर देता है और उसके हाथ कुछ भी नहीं आता । अन्त में वह शून्यता का भागी होकर पश्चाताप करता है । उसे जीवन का रस नहीं मिल पाता ।

अपनी वास्तविक आवश्यकताओं को समझ लेने और उनसे अधिक संग्रह न करने से ही संसार के संघर्ष समाप्त हो सकते हैं । हमारे देश में आज जो संघर्ष चल रहे हैं, उन्हें शान्त करने का यह सर्वोपरि उपाय है- इच्छाओं का परित्याग कर देना अथवा उन्हें सीमित कर देना ।

एक आदमी कपड़े की दुकान करता है । ज्यों ही उसके पास प्रचुर पैसा जुड़ जाता है, तो उसे किसी तरह काम में लगाने की फिकर करता है और उस पैसे से और अधिक पैसा पाने की सोचता है । इस रूप में वह सर्राफ की या अनाज की दूसरी दुकान खोल लेता है, और तब और भी अधिक पैसा इकट्ठा हो जाता है । उसको भी वह उपार्जन में लगाने की फिकर करता है, क्योंकि पैसा निठल्ला नहीं बैठ सकता,

उसे गतिविधि चाहिए। इस तरह वह एक आदमी ही एक दिन सारे बाजार पर कब्जा कर लेता है। धन-कुबेर बन जाता है।

> *पैसा निठल्ला नहीं बैठ सकता, उसे भी गतिविधि चाहिए।*

अब तक मुझे ऐसे कई आदमी मिले हैं, जिन्होंने मुझसे कहा है कि उनके यहाँ अमुक-अमुक तरह की दुकानें हैं। मैं सब की सुना करता हूँ। वे समझते हैं कि हम अपना गौरव प्रदर्शित कर रहे हैं और मैं सोचता हूँ कि इन्होंने सारे बाजार पर कब्जा कर लिया है, तो दूसरों को कमाने की जगह रहेगी या नहीं ?

लेकिन मनुष्य परिग्रह की वृद्धि में ही अपनी प्रतिष्ठा समझते हैं। हिंसक हिंसा करके शर्मिन्दा होता है, झूठ बोलने वाले को झूठा कह दिया जाए तो वह अपना अपमान समझता है और इससे पता चलता है कि वह स्वयं झूठ को निन्दनीय मानता है। चोर चोरी करके अपने को गुनहगार समझता है और अपने आपको छिपाता है, कम-से-कम चोरी करने का ढिंढ़ोरा तो नहीं पीटता। व्यभिचारी आदमी व्यभिचार करता है, तो लुक-छिपकर करता है और अपने लिए कलंक की बात समझता है। इन पापों का आचरण करने वाले अपने पाप का बखान नहीं करते, किन्तु परिग्रह का पापी अपने आप को पापी नहीं समझता और उस पाप के लिए लज्जित भी नहीं होता। यही नहीं, इस पाप का आचरण करने में आज गौरव समझा जाता है और बड़े अभिमान के साथ इस पाप का बखान किया जाता है। ज्ञात होता है कि समाज ने भी इस पाप को पाप नहीं मान रखा है और यही कारण है कि आज के समाज में परिग्रह के पाप की बड़ी प्रतिष्ठा देखी जा रही है। देश में, समाज में, जात-बिरादरी में, विवाह-शादी के अवसर पर, सार्वजनिक संस्थाओं के जलसों-उत्सवों

में, इस प्रकार प्रत्येक अवसर पर परिग्रह के पापियों की ही प्रतिष्ठा होती देखी जाती है । और घोर आश्चर्य की बात तो यह है कि जो जितना बड़ा परिग्रह-पापी है, वह उतना ही अधिक पुण्यशाली समझ लिया जाता है । हमारा अपरिग्रही निर्ग्रन्थ वर्ग भी ऐसे लोगों से प्रभावित और अभिभूत हो जाता है । मैंने सुना है, अपने व्याख्यानों में वह उनका यशोगान करने में भी संकोच नहीं करता है । भरे व्याख्यान में, उन्हें पुण्यात्मा कहा जाता है ।

जब त्यागीवर्ग परिग्रह के पाप को पुण्य के सिंहासन पर आसीन कर दे, तब फिर दुनियाँ में उलट-पलट क्यों न होगी ? लोग परिग्रह की आराधना क्यों न करेंगे ? समाज भी और त्यागीवर्ग भी जिस पाप को प्रशंसनीय समझ ले, उस पाप का सर्वत्र आदर क्यों न होगा ? उस पाप की वृद्धि क्यों न होगी ? उस पाप का आचारण करके लोग क्यों न गौरव का अनुभव करेंगे ?

परिग्रह को पाप की कोटि में से निकाल दिया गया है, तभी तो आज भगवान् महावीर की वाणी और सारे शास्त्र नारों के रूप में रह गए हैं । ऐसा जान पड़ता है कि कहने भर के लिए पाँच पाप रह गए हैं, परन्तु व्यवहार में चार ही पाप माने जाते हैं । परिग्रह पाप नहीं रहा । धन के गुलामों ने उसे पुण्य के आवरण से ढँक दिया है । यही तो परिग्रह की महिमा है ।

पाप को पुण्य समझना मानव जाति के लिए अत्यन्त अमंगल की बात है।

मैं समझता हूँ कि इस प्रकार पाप को पुण्य समझना मानव जाति के लिए

अत्यन्त अमंगल की बात है। यह मनुष्य के पतन की पराकाष्ठा है। यही संघर्षों और विद्रोहों की जड़ है। जब तक मनुष्य परिग्रह के पाप को फिर से पाप न समझ ले और भगवान् महावीर की वाणी को स्वीकार न कर ले, तब तक उसका निस्तार नहीं है, कल्याण नहीं है, त्राण नहीं है, तब तक उसकी अशान्ति का अन्त नहीं है। पाप को पुण्य मानकर संसार कभी सुख-शान्ति के दर्शन नहीं कर सकता।

हाँ, तो मैं कह रहा था कि मिलने वाले लोग बड़े अभिमान के साथ यह बतलाते हैं कि मेरी अमुक-अमुक चीज की दुकानें है। ये अनेक दुकानों के मालिक जब स्थानीय बाजार पर अधिकार कर लेते हैं, तब फिर बाहर के बाजारों की ओर उनकी निगाह जाती है और बम्बई तथा कलकत्ता में अपनी फर्में खोलते हैं। जब एक-एक आदमी इतना लम्बा रूप लेकर चलता है, तो शोषण की वृत्ति भी बढ़ती जाती है।

इस शोषण वृत्ति को रोकने के लिए भगवान् महावीर का दिया परिमाण व्रत है। तुम अपने व्यापार को कहाँ तक फैलाना चाहते हो और व्यापार के लिए कहाँ तक दौड़-धूप करना चाहते हो, इसका परिमाण कर लो।

इस रूप में किसी ने पाँच-सौ या एक हजार योजन का परिमाण किया तो प्रश्न हुआ- क्या परिमाण करने वाला उसके आगे जा सकता है या नहीं ?

कल्पना कीजिए, एक आदमी अपने परिमाण की अन्तिम सीमा तक चला गया और सीमा के अन्तिम छोर पर जाकर वह रुक गया। मगर वहाँ पहुँच कर वह देखता है कि उससे दस कदम आगे किसी बहिन या माता की इज्जत लुट रही है। तो, प्रश्न होता है कि वह उस माँ या

बहन की रक्षा के निमित्त परिमाण से बाहर की भूमि पर जाए या नहीं ?

और, यह प्रश्न आज का नहीं है । पुराने जमाने में भी यह सवाल उठा था कि ऐसे प्रसंग पर वह आगे जाए या वहीं खड़ा-खड़ा देखा करे और उसकी आँखों के सामने सारी गड़बड़ होती रहे । उस विषम स्थिति में वह क्या करे ?

इस प्रसंग पर एक सिपाही की बात याद आ जाती है । सिपाही किसी बंगले के बाहर पहरा दे रहा था । बंगले के दरवाजे पर लिखा था 'बिना इजाजत अन्दर मत आओ' । अचानक चोरों ने प्रवेश किया और वे चारदीवारी के अन्दर घुस गए । यह देखकर सिपाही उनके पीछे दौड़ा । तब तक चोर कमरे के अन्दर घुस गए । सिपाही द्वार पर पहुँचा तो उसकी दृष्टि साइन बोर्ड पर पड़ी । लिखा था- 'बिना इजाजत अन्दर मत आओ' । यह देखकर सिपाही बाहर ही खड़ा रह गया । चोर सामान समेट कर रफूचक्कर हो गए ।

शास्त्रों में दिशा-परिमाण का जो विधान किया गया है, वह विधान इस प्रकार का रूप ग्रहण न कर ले और अर्थ का अनर्थ न हो जाए, इस हेतु हमारे भाष्यकारों ने विचार किया है और स्पष्ट रूप में कहा है कि दिशा-परिमाण व्रत का उद्देश्य यही है कि तुम किसी वासना की पूर्ति के लिए आगे नहीं जा सकते हो । पाँच आस्रवों के सेवन के लिए आगे जाने का तुम्हारे लिए निषेध है । यदि किसी की रक्षा का प्रश्न है या और कोई समस्या है, तो जनकल्याण के लिए दिशा-परिमाण व्रत बाधक नहीं बनता । जन-कल्याण के लिए पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक भी जा सकते हो ।

इस रूप में दिशा-परिमाण का अर्थ यही है कि मनुष्य अपनी दौड़ का घेरा निश्चित कर ले। वहाँ तक मुझे जाना है और वहाँ से आगे नहीं जाना है। इस प्रकार अपने आपको तैयार कर लेने के लिए ही इस व्रत का विधान किया गया है। यह एक बहुत बड़ी क्रान्ति थी, बहुत बड़ा इंकलाब था।

आज एक देश, दूसरे देश को लूटना चाहता है और जब जिसे मौका मिलता है, तो एक-दूसरे को लूटता है। सब देश म्यान से बाहर तलवारें निकाल कर खड़े हैं और चाहते हैं कि हमें ऐसी मंडियाँ मिलती रहें कि बिना किसी विघ्न-बाधा के हमारी लूट चलती रहे। इस प्रकार एक दूसरे का शोषण करना चाहते हैं और दूसरे के धन को अपने कब्जे में करना चाहते हैं। यह परिग्रह का भीषणतम रूप है।

पहले जमाने में किसी राजा की सुन्दर कन्या होती थी, तो उसकी खैर नहीं थी। उस पर दूसरे राजा अपनी आँखें गड़ाये रहते थे। किन्तु लूटने की भावना इतनी नहीं थी। आज एक देश के दूसरे देश पर जो हमले होते हैं, वे व्यापारिक दृष्टि से ही होते हैं। किसी देश में तेल का कुआ निकल आया या यूरेनियम की अथवा हीरे की खान निकल आई, तो दूसरे देशों की आँखें उधर घूम जाती हैं। जब मौका पाते हैं, तो उस पर अधिकार करके उसे लूटने का प्रयत्न करते हैं। आजकल होने वाले युद्धों का मूल व्यापारिक लूट है।

इस दृष्टि से भगवान् महावीर की साधना एक महत्वपूर्ण सन्देश लेकर चलती है। वह सन्देश यही है कि पहले जीवन पर ब्रेक लगा लो। जहाँ तक तुम्हारी आवश्यकताएँ हैं, उनसे आगे न बढ़ो, न किसी देश पर कब्जा करो, न किसी देश के साधनों पर कब्जा करो और न दूसरे की रोटियाँ छीनने की कोशिश करो।

यही महत्वपूर्ण बात है और इसी में से अपरिग्रह व्रत निकल कर आया है । पहले अपने जीवन की आवश्यकताओं को समझो और आवश्यकताओं से अधिक धन का संचय करना बन्द कर दो । भविष्य का संग्रह बन्द नहीं होगा, तो अपरिग्रह का परिपालन कैसे होगा ?

इसके बाद दान का नम्बर आता है । दान इकट्ठे किए हुए धन का प्रायश्चित है । दान के लिए मैं प्रायश्चित शब्द का प्रयोग कर रहा हूँ, तो बिना समझे बूझे नहीं । वास्तव में आप दान करते हैं, तो दूसरों पर कोई बड़ा भारी एहसान नहीं कर रहे हैं । अगर आप त्याग की भावना से दान करते हैं और देय वस्तु पर से ममता त्यागना चाहते हैं, तब तो आपका दान प्रशस्त है और आप अपने ऊपर ही अनुग्रह करते हैं, तो उसके लिए दूसरों पर एहसान जतलाना उचित नहीं है । यदि कोई प्रतिष्ठा के लिए, कीर्ति के लिए और नेकनामी के लिए दान देता है, तो उस दान में चमक नहीं है । उससे दोनों ओर अंधकार बढ़ता है । इसके विपरीत उनके मन में वह दान घृणा की आग को जन्म देता है । जनता अनुभव करती है कि इधर हमको लूटा जाता है और उधर दान दिया जाता है ।

> *यदि कोई प्रतिष्ठा, कीर्ति और नेकनामी के लिए दान देता है, तो उस दान में चमक नहीं है।*

मगर जो दाता यह समझता है कि मैंने इकट्ठा किया है, अब मैं इसका क्या करूँ ? मुझे इतने धन की आवश्यकता नहीं है, अपितु इस धन की जनता को आवश्यकता है । ऐसा समझ कर जो जनता के हित के लिए देता है, वह नहीं समझता कि मैंने बड़ा अनुग्रह किया है । बल्कि यह समझता है कि मैंने धन-संचय करने का प्रायश्चित किया है । परिग्रह के पाप का प्रायश्चित है, दान ।

इस प्रकार की ऊँची भावना से दिए जाने वाले दान से अहंकार का जहर उत्पन्न नहीं होता, बल्कि वह दान जीवन के विष को दूर कर देता है और जीवन को अमृतमय बनाता है । जिस समाज और जिस देश में ऐसा दान होता है, समाज और देश के साथ ही दाता भी ऊँचा उठता है ।

आशय यह है कि मनुष्य का सर्वप्रथम कर्तव्य है कि वह अपने जीवन की आवश्यकताओं को भली-भाँति समझे और उनसे अधिक के लिए अपनी इच्छाओं पर ब्रेक लगा ले । पहले जो अधिक इकट्ठा कर चुका हो, उस पर से भी अपना प्रभुत्व हटाने के लिए दान दे और इस तरह परिग्रह का परिमाण कर ले । गृहस्थ अपनी मर्यादा के भीतर रहकर जब उपार्जन करे, तब इस प्रकार करे कि खुद भी खा सके और दूसरे भी खा सकें । यह नहीं कि ऐसा उदरंभरी बन जाए कि दूसरों का हक छीन-छीन कर आप हड़प जाए । जब तक यह वृत्ति उत्पन्न नहीं होगी, जीवन में शान्ति नहीं मिलेगी । विष खाने पर शान्ति कैसे मिल सकती है ?

परिग्रह-परिमाण, जैसे व्यक्ति के जीवन को शान्त, संतोषमय और सुखमय बनाता है, उसी प्रकार राष्ट्रों के जीवन को भी । जो सिद्धान्त वैयक्तिक जीवन के लिए है, वही राष्ट्र पर भी लागू होता है । जो नियम व्यक्ति के लिए होते हैं, वे ही समाज एवं राष्ट्र के लिए भी होते हैं ।

हमारे यहाँ आचार्य संघदास गणी एक महान् भाष्यकार हो गए हैं । जब हम उनके भाष्यों का अध्ययन करते हैं, तब गद्-गद् हो जाते हैं । कहीं-कहीं वे इतने भाव-गाम्भीर्य में उतरे हैं कि कहा नहीं जा सकता । संसार में रह कर क्या किया जाए, किस रूप में रहा जाए और

गृहस्थ की कौन-सी मर्यादा हो, जीवन की समस्याओं पर उन्होंने एक रूपक दिया है । वह इस प्रकार है-

एक राजा था और उसके तीन लड़के थे । राजा बूढ़ा हो गया, तो उसे अपना उत्तराधिकारी चुनने की चिन्ता हुई । उसने सोचा- तीन पुत्रों में से किसे उत्तराधिकारी बनाया जाए ?

आम तौर पर या तो ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकार दिया जाता है, या फिर राजा अपने सब से अधिक प्रिय पुत्र को उत्तराधिकार दे देता है । पर बूढ़ा राजा इन दोनों तरीकों को पसन्द नहीं करता था । उसके लिए तीनों पुत्र समान रूप से प्रिय थे और वह ज्येष्ठता को योग्यता का प्रमाण नहीं समझता था । उसका विचार दूसरा था । उसने अपनी प्रजा का पुत्र के समान पालन-पोषण किया था और प्रजा उसको अपना पिता समझती थी । जो राजा और प्रजा के बीच के इस मधुर सम्बन्ध को कायम रख सके, इस पवित्र परम्परा को बढ़ा सके और इस दृष्टि से जो सर्वाधिक योग्य हो, उसी को राजा बनाना चाहिए; यही बूढ़े राजा का दृष्टिकोण था ।

राजा ने अपने मन्त्री से परामर्श किया कि तीनों राजकुमारों में से किसे उत्तराधिकारी बनाया जाए ? पर मन्त्री के लिए भी यह निर्णय करना कठिन था । आखिर यह निश्चय हुआ कि राजकुमारों की परीक्षा कर ली जाए और जो सब से अधिक योग्य साबित हो, उसे राज्य का उत्तराधिकारी घोषित किया जाए ।

तीनों राजकुमारों को राजमहल में भोजन के समय आमन्त्रित किया गया । समय पर तीनों राजकुमार आ गए और उन्हें भोजन के लिए आसनों पर बिठला दिया गया । भोजन के थाल उनके सामने रख दिए गए । पर ज्यों ही वे भोजन करने हेतु उद्यत हुए कि तीन भयंकर

शिकारी कुत्ते उन पर छोड़ दिए गए । कुत्ते भोंकते हुए ज्यों ही कुमारों के पास आए कि उनमें से एक राजकुमार तो भयभीत हो गया । उसने सोचा- आज यह शिकारी कुत्ता मेरा ही शिकार करेगा ! क्या इसीलिए हमें बुलाया गया है । वह राजकुमार ऐसा सोच कर अपने प्राण बचा कर भाग गया और उसके भोजन को कुत्ता खा गया । दूसरा राजकुमार हिम्मत वाला और बहादुर था । वह भागा नहीं । उसने इधर- उधर देखा, तो उसे एक डंडा मिल गया । कुत्ता पीछे हट गया । राजकुमार खाने लगा । मगर कुत्ता फिर हमला करता और राजकुमार फिर उसे डंडा मार कर भगा देता । इस प्रकार राजकुमार और कुत्ते का द्वन्द्व चालू रहा और राजकुमार भोजन करता रहा ।

तीसरे राजकुमार की ओर जैसे ही तीसरा कुत्ता आया, तो वह न तो भयभीत होकर भागा और न क्रुद्ध होकर उसने डंडा संभाला, किन्तु अपने थाल में से जिसमें आवश्यकता से अधिक भोजन भरा था, कुछ टुकड़े कुत्ते को डाल दिए । इस तरह कुत्ता भी खाने लगा और राजकुमार भी आनन्द से खाने लगा । इस प्रकार जब-जब कुत्ता भौंका, तब-तब वह टुकड़ा डालता रहा । आखिर उसने भी आनन्द से भोजन किया और कुत्ते को भी सन्तोष हो गया । थोड़ी देर बाद कुत्ते की हमला करने की वृत्ति दूर हो गई । उसमें सहृदयता के भाव आ गए और वह दुम हिलाने लगा । दूसरे लड़के ने कुत्ते से लड़ते-लड़ते ही जैसे-तैसे अपना भोजन समाप्त किया ।

कहानी समाप्त हो गई और राजकुमारों की परीक्षा भी समाप्त हो गई । इसके बाद राजा ने मन्त्री से परामर्श किया- किसे उत्तराधिकारी बनाना चहिए ? दोनों ने सोचा- जो मैदान छोड़कर भाग गया, उसे तो

उत्तराधिकारी बनाने का प्रश्न ही पैदा नहीं होता । जीवन में संघर्ष भी होते हैं, प्रतिकूल परिस्थितियाँ भी आती हैं । हमें ऐसा उत्तराधिकारी नहीं चाहिए, जो ऐन मौके पर मैदान छोड़ कर ही भाग जाए, जो जीवन की कठिनाइयों का मुकाबला न कर सके ! ऐसा कायर पुरुष देश का और जनता का कल्याण नहीं कर सकता । ऐसे पुत्र को उत्तराधिकारी बनाना साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े कर देना है ।

तो, सोचा गया- क्या दूसरे को उत्तराधिकारी बनाया जाए ? वह वीर है, बहादुर है और अन्त तक संघर्ष करने वाला है । किन्तु संसार में केवल तलवारों के भरोसे ही फैसला नहीं होता है । यह वह आदमी है, जो अपनी चीज की रक्षा करेगा और स्वयं मौज करेगा, किन्तु दूसरों को कोई सान्त्वना नहीं देगा; वह अन्याय और अत्याचार के बल पर और तलवार के भरोसे पर दूसरों को समाप्त कर देगा । वह प्रजा की भूख की परवाह नहीं करेगा । वह भागेगा नहीं, जिन्दगी भर खून बहाएगा । तो, ऐसे आदमी को भी उत्तराधिकारी नहीं बनाया जा सकता है । वह तो देश में अशान्ति की लहरें ही पैदा करता रहेगा ।

शेष रहा तीसरा राजकुमार, बस वही उत्तराधिकार के योग्य है । उसने खुद भी खाया और किसी को डंडा भी नहीं दिखलाया- उसने बुद्धिमानी के साथ स्वयं खाया और दूसरे को भी खिलाया । इस

> जो संघर्ष के समय बुद्धिमत्ता का परिचय दे, अपनी आवश्यकताओं की भी पूर्ति करे और दूसरों की आवश्यकताओं का भी ख्याल रखे, वही योग्यता और सफलता के साथ राज्य का संचालन कर सकता है और प्रजा के प्रति वफादार रह सकता है ।

प्रकार उसने अपने प्रतिद्वन्द्वी को भी अपना प्रेमी बना लिया। उसके पास अपनी आवश्यकता से अधिक जो साधन थे, उनसे उसने दूसरे को लाभ पहुँचाया। इसी प्रकार की वृत्ति की जीवन में आवश्यकता है। जो संघर्ष के समय बुद्धिमत्ता का परिचय दे, अपनी आवश्यकताओं की भी पूर्ति करे और दूसरों की आवश्यकताओं का भी ख्याल रखे, वही योग्यता और सफलता के साथ राज्य का संचालन कर सकता है और प्रजा के प्रति वफादार रह सकता है।

जिस देश, समाज और परिवार में ऐसे उत्तराधिकारी होते हैं, वही देश, समाज और परिवार फलते-फूलते हैं। आखिर राजा ने उस तीसरे राजकुमार को अपना उत्तराधिकारी बना दिया। योग्य व्यक्ति का चुनाव कर लिया गया।

संघदास गणी के इस रूपक का भाव यह है कि जब अपना उत्तराधिकारी बनाने का विचार करो, तब इस दृष्टिकोण से विचार करो। देख लो कि तुम्हें कायर और भगोड़े को उत्तराधिकारी बनाना है, दूसरों को डंडे मार-मार कर अपना पेट भरने वाले को उत्तराधिकारी बनाना है या स्वयं भी खाने और दूसरे को भी खिलाने वाले को अपना उत्तराधिकार बनाना है?

अभिप्राय यह है कि आप जो परिग्रह इकट्ठा करते हो, तो उसकी मर्यादा कर लो और उस पर ऐसा एकाधिकारी मत बनाए रखो कि उसमें से कुछ भी किसी दूसरे के काम न आए। तुम्हारे साधनों से दूसरों का भी कल्याण होना चाहिए। समाज के लाभ में भी उनका व्यय होना चाहिए। समाज के लाभ में व्यय करते समय यही समझना चाहिए कि मैं अपने पापों का प्रायश्चित्त कर रहा हूँ, तो समाज और देश का

कल्याण होगा और वह व्यक्ति भी कल्याण का भागी होगा । समाज और राष्ट्र में भी सुख एवं समृद्धि बढ़ेगी ।

दिनांक 18.11.50

- ब्यावर (अजमेर)

जब तक जीवन है, जीवन के मैदान में दौड़ना पड़ता है, तैयारी करनी पड़ती है, संघर्ष करने पड़ते हैं । इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि उस दौड़ और संघर्ष में से विवेक न निकल जाए, न्याय न निकल जाए और विचार न निकल जाए । जीवन का संघर्ष अज्ञान के अन्धकार में न किया जाए । गृहस्थ को यह न भूल जाना चाहिए कि मैंने किस तरीके से पैसा पैदा किया है ? मेरे पास अन्याय और अत्याचार का तो कोई पैसा नहीं आ रहा है !

परिग्रह क्या है ?

अपरिग्रह क्या है और अपरिग्रह-व्रत की साधना किस प्रकार की जा सकती है, इस विषय में काफी विचार आपके सामने रखे जा चुके हैं । आज भी इसी सिलसिले में कुछ बातें और कहनी हैं ।

बात यह है कि मनुष्य जब तक गृहस्थी के रूप में रहता है, दुनियादारी उसके पीछे है । परिवार, समाज तथा देश के साथ उसका सम्बन्ध बना हुआ है । इसलिए उसे कुछ न कुछ संग्रह करना पड़ता है । इस रूप में संग्रह किए बिना और परिग्रह रखे बिना वह अपना जीवन ठीक तरह चला नहीं सकता ।

भिक्षु और गृहस्थ का जीवन, अन्दर में तो एक ही रास्ते पर चलता है, किन्तु कदम कुछ आगे-पीछे अवश्य होते हैं । इस रूप में साधु के कदम तेज और गृहस्थ के कदम मंद माने गए हैं । किन्तु मार्ग दोनों का एक ही है । कुछ लोग कहते हैं कि साधु का मार्ग अलग है और गृहस्थ का मार्ग अलग है, मगर वास्तव में बात ऐसी नहीं है ।

सम्भव है, यह बात सुनकर आपको आश्चर्य हो, आपके मन में संकल्प-विकल्प उत्पन्न हों और आप सोचने लगें कि हम तो दोनों के मार्ग अलग-अलग सुनते आ रहे हैं ! फिर दोनों का मार्ग किस प्रकार एक हो सकता है ?

जब आप ऐसा विचार करने लगें तब यह भी विचार करें कि

साधु का मार्ग अहिंसा और सत्य का मार्ग है, तो श्रावक का मार्ग हिंसा और असत्य का है। श्रावक बनने के लिए क्या हिंसा का आचरण करना चाहिए ? असत्य का सेवन करना चाहिए ? और मेरे इन प्रश्नों के उत्तर में आप कहेंगे- नहीं। तो, वास्तविक बात यह है कि जो मार्ग साधु का है, वही गृहस्थ एवं श्रावक का भी है। साधु की अहिंसा गृहस्थ की अहिंसा से अलग नहीं है। और न दोनों के सत्य के रूप-रंग में ही कुछ अन्तर है।

अलबत्ता, यह सही है कि गृहस्थ दुनियादारी के बन्धनों को लेकर चलता है, मर्यादा बांधकर चलता है, इसलिए उसके कदम तेज नहीं पड़ पाते। साधु के ऊपर समाज और देश का व्यवहारिक उत्तरदायित्व नहीं होता, दूसरों की कोई बड़ी जबाबदारी नहीं होती, केवल अपने जीवन का उत्तरदायित्व होता है। इस रूप में वह हल्का होता है, लघुभूत-विहारी होता है, इस कारण साधु के कदमों की गति भी तेज होती है। इस प्रकार एक की गति मंद और दूसरे की तीव्र होती है, परन्तु दोनों के मार्ग में कुछ भी अन्तर नहीं है।

अगर दोनों के मार्ग में अन्तर मान लिया, तो बड़ी गड़बड़ होगी। साधु की साधना का लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष मार्ग में ही वह गति करता है। तो गृहस्थ का मार्ग, साधु के मार्ग से यदि भिन्न है, तो वह मोक्ष मार्ग से भिन्न और परम उपयोगी मार्ग फिर कौन-सा है ? मोक्ष मार्ग नहीं है तो क्या संसार मार्ग है ? आखिर, श्रावक धर्म की साधना का फल क्या है ? क्या श्रावक-धर्म संसार अर्थात् जन्म-मरण की वृद्धि करने वाला है ? क्या वह मोक्ष का अधिकारी नहीं है ?

संसार का मार्ग आस्रव का मार्ग है और मोक्ष का मार्ग संवर का मार्ग है। श्रावक की अहिंसा और सत्य आदि की साधना को संवर में

गिना जाए या आस्रव में ? यदि उसे संवर में गिनें तो वह संवर मोक्ष का मार्ग है, तो इसका अर्थ यही हुआ कि गृहस्थ का अहिंसा, सत्य आदि का मार्ग भी मोक्ष-मार्ग ही है, और इस रूप में दोनों का मार्ग अलग-अलग नहीं है । साधु का जीवन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र के मार्ग पर चलता है और श्रावक का जीवन भी इसी मार्ग पर चलता है । दोनों का स्तर अलग-अलग होने पर भी दोनों का मार्ग अलग-अलग नहीं है । दोनों का लक्ष्य भी एक ही है और गन्तव्य पथ भी एक ही है ।

आचार्य से प्रश्न पूछा गया कि मोक्ष का मार्ग क्या है ? तो उन्होंने उत्तर दिया- **सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्ष-मार्गः ।**

अर्थात् सम्यग्दर्शन-सत्य का दर्शन, सत्य का प्रामाणिक ज्ञान और सम्यक्चारित्र का पालन, यही सब मिलकर मोक्ष का मार्ग है । तीनों मिलकर ही मोक्ष-मार्ग हैं । पहले सम्यग्दर्शन, फिर सम्यग्ज्ञान और पीछे चारित्र आता है । भगवान् महावीर ने भी उत्तराध्ययन सूत्र के 28 वें अध्ययन में यही कहा है-

नादंसणिस्स नाणं, नाणेण विना न हुंति चरण-गुणा ।
अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ।।

अर्थात् जब तक तुम्हारे हृदय में, अन्तरात्मा में, सम्यग्दर्शन का आविर्भाव नहीं होगा, सत्य के प्रति दृढ़ आस्था नहीं होगी, तुम्हारे विश्वास में ढ़ीलापन रहेगा, सत्य के प्रति सुनिश्चित संकल्प जागृत नहीं होगा, तब तक सम्यग्ज्ञान भी तुमको नहीं होगा । केवल पुस्तकें पढ़ लेने मात्र से, शास्त्रों में माथा-पच्ची करने से और हजार दो हजार श्लोक या गाथाएं रट लेने से कुछ नहीं होगा । सच्चा ज्ञान, सत्य के प्रति दृढ़ संकल्प होने पर ही आ सकता है । अर्थात् जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होगा, तब तक

सम्यग्ज्ञान नहीं आएगा और जब तक सम्यग्ज्ञान नहीं होगा तब तक सत्य की ज्योति के दर्शन नहीं होंगे, संसार और मोक्ष का भेद समझ में नहीं आ जाएगा और जब तक दोनों के स्वरूप का विश्लेषण करके नहीं समझ लोगे, तब तक आचरण क्या करोगे ? अर्थात् ज्ञान के बिना चारित्र नहीं हो सकता । कहा है-

अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं ।

जिसे सम्यक् चारित्र की प्राप्ति नहीं हुई है, उसे मोक्ष भी नहीं प्राप्त हो सकता और मोक्ष प्राप्त हुए बिना पूर्ण-शान्ति नहीं मिल सकती । मोक्ष के लिए तीनों की साधना परम आवश्यक है ।

इस प्रकार चाहे कोई साधु हो या गृहस्थ हो, दोनों के लिए यही मार्ग है, यही विधान है । साधु भी इसी रत्न-त्रय की आराधना करता है और श्रावक भी इसी रत्न-त्रय की आराधना करता है । एक की आराधना सर्वाराधना है और दूसरे की आराधना देशाराधना है, मगर आराधना दोनों की ही है और है भी रत्न-त्रय की ही ! तो, साधु और श्रावक का मार्ग फिर अलग-अलग किस प्रकार हो सकता है ?

जिस मार्ग पर साधु चल रहा है, उसी मार्ग पर श्रावक भी चल रहा है । साधु आगे-आगे चल रहा है और श्रावक पीछे-पीछे और धीमे-धीमे । तो, दोनों में आगे-पीछे का अन्तर है, मार्ग का भेद नहीं है । आगे-पीछे चलना अपनी शक्ति पर निर्भर करता है ।

कहा जा सकता है कि गृहस्थ चलता तो है, पर संसार में ही अटक जाता है । स्वर्ग में चला जाता है या अन्यत्र कहीं ओर ? वह सीधा मोक्ष में नहीं पहुँचता है । यह ठीक है, क्योंकि उसकी साधना अपूर्ण होती है, वह अपनी साधना को पूर्ण नहीं कर पाता है और जब

पुनः साधना करता है और उसमें पूर्णता प्राप्त कर लेता है, तब मोक्ष पा लेता है। यह बात तो साधु के विषय में भी है। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक साधु एक ही जीवन में अपनी साधना की पूर्णता पर पहुँच जाए और मुक्ति प्राप्त कर ले। बल्कि, आज के जमाने में तो कोई भी साधु इसी भव से मोक्ष नहीं पा सकता। उसे भी स्वर्ग में जाना पड़ता है। तब क्या श्रावक की तरह आज के साधुओं का मार्ग भी अलग मानना पड़ेगा ?

आशय यह है कि जहाँ तक अहिंसा और सत्य आदि का सवाल है, अलग-अलग नहीं है, किन्तु जीवन के व्यवहार अलग-अलग हैं; और उन्हीं जीवन के व्यवहारों को लेकर हम साधु और श्रावक का भेद करते हैं और इस रूप में साधु का जीवन अलग है तथा गृहस्थ का जीवन अलग है।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देनी है, वह है कि मेरे इस विवेचन का अर्थ यह न निकाला जाए कि गृहस्थ और साधु की अहिंसा और सत्य एक ही हैं- उनके उत्तरादयित्व भी एक ही हैं। स्पष्ट किया जा चुका है कि दोनों में जहाँ अभेद है, वहाँ दोंनों श्रेणियों में भेद भी है। इस कारण गृहस्थ पर अपने परिवार, समाज और देश के रक्षण और पालन-पोषण का उत्तरदायित्व है, गृहस्थ उससे बच नहीं सकता, और उसे बचना चाहिए भी नहीं। वह यह कहकर छुटकारा नहीं पा सकता कि साधु देश और समाज की कोई व्यवहारिक सेवा नहीं करते, तो हमें भी उसकी क्या आवश्यकता है। साधु समाज और देश से अपना सम्बन्ध विच्छेद करके एक विशिष्ट जीवन में प्रवेश करता है, परन्तु गृहस्थ ऐसा नहीं करता। यद्यपि साधु का भी किसी सीमा तक समाज के साथ सम्बन्ध रहता

है और इस कारण वह भी अपने ढंग से समाज का उपकार करता है । साधु भी समाज में रहता है ।

पानी, पानी ही है; चाहे वह नदी में हो, कुंए में हो, या घड़े में भर लिया गया हो, वह प्यास बुझाएगा ही । इसी प्रकार अहिंसा चाहे साधु की हो, चाहे श्रावक की हो, वह तो संवर रूप ही है और मोक्ष का ही मार्ग है । इस दृष्टि से साधु और श्रावक का मार्ग परस्पर विरोधी नहीं कहा जा सकता ।

इस दृष्टिकोण का अर्थ यह हुआ कि गृहस्थ के पास जितना परिग्रह है, वह परिग्रह ही है और उसके अतिरिक्त परिग्रह का त्याग जो उसने किया है, वह अपरिग्रह है । जहाँ तक उसका संसार से सम्पर्क है, वहाँ तक हिंसा है और जितनी हिंसा का उसने त्याग किया है, वह अहिंसा है । इस प्रकार गृहस्थ के परिग्रह और अपरिग्रह की सीमाएँ हैं । गृहस्थ जब तक संसार-व्यवहार कर रहा है और गृहस्थी में रह रहा है, तब तक वह परिग्रह से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता । वह भिक्षा मांगकर, साधु की तरह तो अपना निर्वाह नहीं कर सकता । भिक्षा मांग कर अपना जीवन चलाना गृहस्थ के लिए अच्छा नहीं समझा गया है । किसी महान् उच्च साधना में निरत श्रावक इसका अपवाद हो सकता है परन्तु साधारण गृहस्थ तो भिक्षा पर अपना निर्वाह नहीं कर सकता । अतएव गृहस्थ के लिए यही आवश्यक समझा गया है कि वह अपनी आवश्यकताओं के अनुरूप उत्पादन करे और अपने जीवन को अपने आप चलाए । वह अपना भी भरण-पोषण करे और परिवार तथा समाज का भी । उसमें दूसरों को देने के भाव भी होने चाहिए और शनैः-शनैः इस प्रकार के जितने अधिक भाव उसमें जागते जाएंगे, उसका जीवन उतना ही विशाल और विराट् बनता जाएगा । इस रूप में गृहस्थ जो

संग्रह करता है, वह केवल उसी के लिए नहीं होता; बल्कि दूसरों के भी काम आता है ।

यह तो गृहस्थ के संग्रह किए हुए परिग्रह की बात हुई । किन्तु वह जो नवीन उपार्जन करता है, उसके लिए भी कोई मर्यादा है या नहीं? इस सम्बन्ध में आचार्य हेमचन्द्र ने तथा दूसरे भी आचार्यों ने कहा है-

न्याय-सम्पन्न-विभवः - आचार्य हेमचन्द्र
न्यायोपात्त-धनः - आशाधर

गृहस्थ को सम्पत्ति तो चाहिए, वैभव भी चाहिए, उसके बिना उसका जीवन नहीं चल सकता, किन्तु वह सम्पत्ति और वैभव उसे अन्याय से उपार्जन नहीं करना चाहिए । उसकी सम्पत्ति पर न्याय की छाप लगी होनी चाहिए । उसकी सम्पत्ति पर न्याय की जितनी गहरी छाप लगी होगी, उस सम्पत्ति का जहर उतना ही कम हो जाएगा । इसके विपरीत जो धन जितने अन्याय और अत्याचार से प्राप्त किया जाएगा, जो पैसा दूसरों के आँसुओं और खून से भीगा हुआ होगा, वह उस धन के जहर को बढ़ाएगा और उस धन का वह जहर अपने व दूसरों के जीवन को गलाएगा । वह पैसा जहाँ कहीं भी जाएगा, जहर ही पैदा करेगा । संसार में घृणा, क्लेश और द्वेष की आग ही जलाएगा । कषाय-भाव को संसार की आग कहा है ।

गृहस्थ जो संग्रह करता है, वह केवल उसी के लिए नहीं होता; बल्कि दूसरों के भी काम आता है।

इस रूप में हम समझते हैं कि हमारे आचार्यों ने सुन्दर विश्लेषण किया है । वे जितने आदर्शवादी थे, उतने ही यथार्थवादी भी । उन्होंने यह स्वप्न नहीं देखा कि गृहस्थ गृहस्थी में तो रहे, खाने-पीने में तो रहे,

परन्तु आवश्यक चीजें प्रदान न करें । तो जैन धर्म ऐसी ख्याली दुनियाँ में नहीं रहा, क्योंकि ख्याली दुनियाँ में रहने वाले कभी जीवन की ऊँचाई को प्राप्त नहीं कर सकते । उसे व्यवहारिक होना आवश्यक है ।

जब तक जीवन है, जीवन के मैदान में दौड़ना पड़ता है, तैयारी करनी पड़ती है और संघर्ष करने पड़ते हैं, तो इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि उस संघर्ष और दौड़ में से विवेक न निकल जाए, न्याय न निकल जाए और विचार न निकल जाए । जीवन का संघर्ष अज्ञान के अन्धकार में न किया जाए । गृहस्थ को यह न भूल जाना चाहिए कि मैंने किस तरीके से पैसा पैदा किया है ? मेरे पास अन्याय और अत्याचार का तो कोई पैसा नहीं आ रहा है ?

रोटी तो साधु को भी चाहिए । जब तक पेट है, तब तक रोटी की तो आवश्यकता है ही, जीवन की अपरिहार्य आवश्यकता है । मगर यहाँ भी यही प्रश्न उपस्थित होता है-

कस्सट्ठा केण वा कडं ! - दशवैकालिक सूत्र, अ. 5

अर्थात्- यह खाद्य-सामग्री कैसे तैयार की गई है, किसके लिए तैयार की गई और कितनी तैयारी की गई है और इसमें हमारा संकल्प और उद्देश्य तो नहीं है ? यह आहार, गृहस्थ ने सहज भाव से अपने लिए बनाया है या दूसरों के लिए बनाया है ? साधु गृहस्थ से पूछ कर यह मालूम कर ले और गृहस्थ न बतलावे तो वातावरण से या दूसरे किसी उपाय से जान ले । इतने पर भी यदि उसे सन्देह रह जाए और विश्वास न हो कि यह सहज भाव से नहीं बनाया गया है, तो साधु उस आहार को ग्रहण न करे । इस प्रकार साधु को भी उद्‌गम और 'उत्पादन' का विचार करना पड़ता है ।

जैसे साधु को विचार करना चाहिए, वैसे ही श्रावक को भी विचार करना चाहिए कि यह रोटी कहाँ से आई है, कैसे आई है और किस रूप में आ रही है ? यह इस जीवन में प्रकाश दे सकती है या नहीं ? मेरी मर्यादा के अनुरूप है या नहीं ।

एक श्रावक ने प्रश्न किया था कि धन यदि न्याय से आता है, तो वह बुरा कैसे हुआ ?

मैंने अपनी पुरानी परम्परा का उल्लेख करते हुए कहा था कि धन दो प्रकार से आया करता है- पुण्यानुबन्धी पुण्य से और पापानुबन्धी पुण्य से । जब पुण्यानुबन्धी पुण्य से धन आता है, तब उसको पाकर धनवान की सकल वृत्तियाँ अच्छी हो जाती हैं, उसके विचारों और भावनाओं में पवित्रता आ जाती है और उसे उस धन का सदुपयोग करने के लिए विचार-बुद्धि और चिन्तन भी मिलते हैं, जब वह उस धन का जन-कल्याण के लिए उपयोग करता है, तब उसका मन खुशी से नाचने लगता है, वह अवसर की तालाश में रहता है कि जो कुछ पाया है, उसका मैं उपयोग करलूँ और जब अवसर मिलता है, तब वह भूखे को रोटी और नंगे को कपड़ा देता है अन्य किसी के लिए अपनी चीज का उपयोग करता है, तो आनन्द-विभोर हो जाता है । वह देने से पहले, देते समय और देने के बाद भी आनन्द की अनुभूति करता है । वह जब तक जीवन में रहेगा, आनन्द की लहर उसके जीवन से बहती ही रहेगी । वह देकर कभी पछताएगा नहीं ।

ऐसा धन पुण्यानुबन्धी पुण्य से आया है और आगे भी पुण्य की खेती बढ़ाता है । यह वह अन्न है, जो खाकर खत्म नहीं कर दिया गया है, किन्तु पहले पुण्य की खेती से आया है और आगे भी खेत में फसल

तैयार करेगा । पुण्यानुबन्धी पुण्यशाली व्यक्ति आनन्द से आनन्द में और सुख से सुख में जीवन की यात्रा करता है और एक दिन मोक्ष के द्वार पर पहुँच जाता है ।

> *पुण्य-शाली व्यक्ति आनन्द से आनन्द में और सुख से सुख में, जीवन की यात्रा करता है,*

पापानुबन्धी पुण्य की बात इससे विपरीत है । जब तक धन नहीं आया, तब तक मनुष्य विचार करता है कि धन आए तो यह कर लूँ वह कर लूँ, और ज्यों ही धन आता है कि उसके वे विचार न जाने कहाँ गायब हो जाते हैं । आया हुआ धन उसके सामने अन्धकार का विस्तार कर देता है, उसके विचारों पर अन्धकार की कालिख पोत देता है, जब दान देने का प्रसंग आता है, तब दिल में दर्द होता है और वह सिकुड़ने लगता है । देने से पहले भी और बाद में भी पछताता है । कभी शंका से या लाज से मुट्ठी ढ़ीली करनी भी पड़े, तो उसे उस समय ऐसा अनुभव होता है, जैसे बिच्छू ने डंक मार दिया हो । यह तो संसार है, मुट्ठी ढ़ीली करनी ही पड़ती है, किन्तु जब उसे ढ़ीली करनी पड़ती है, तब पहले भी और बाद में भी वह रोता है और जब लेखा देखता है, तब भी रोता है । जिस धन से मनुष्य की ऐसी स्थिति होती है, समझना चाहिए, वह धन पापानुबन्धी पुण्य से मिला है । पुण्यानुबन्धी पुण्य और पापनुबन्धी पुण्य के यह लक्षण आपके सामने हैं । इनके आधार पर आप सोच सकते हैं कि आपने जो धन पाया है, वह पुण्यानुबन्धी पुण्य से पाया है अथवा पापानुबन्धी पुण्य से प्राप्त किया है ।

मैं समझता हूँ, जैनदर्शन का प्रत्येक विद्यार्थी मम्मण सेठ से परिचित होगा । फिर भी उसकी कहानी संक्षेप में बतलाए देता हूँ, जो बड़ी ही विचित्र है-

राजगृही के मम्मण सेठ के पास 99 करोड़ का धन था । इतना

धन होने पर भी न वह स्वयं खाता, न दूसरों को खाने देता था। दूसरों की बात जाने दीजिए, वह अपने लड़कों को भी नहीं खाने देता था। कदाचित् लड़कों को अच्छा खाते-पीते देख ले, तो घर में महाभारत मचा दे। आखिर लड़कों ने सोचा- ऐसे कैसे जीवन गुजरेगा ? घर में रहेंगे, तो खाना-पीना और पहनना भी पड़ेगा। जिन्दगी है, तो बिना खाये-पीये कैसे चलेगी ?

लड़कों ने सेठ से कहा- हमको थोड़ी-थोड़ी पूँजी दे दीजिए, जिससे हम कमाते रहें और अपना जीवन चलाते रहें और इस धन को आप मुर्गी के अण्डे की तरह सेते रहिए ! आखिर यह भी एक दिन हमें ही मिलेगा। सेठ ने कहा- पूँजी तो दे दूँगा। किन्तु ब्याज सहित मूल पूँजी वापिस लूँगा। लड़कों ने कहा- अजी, हम तो आपके ही लड़के हैं।

सेठ बोला- लड़के हो, यह तो ठीक है, पर धन को बर्बाद करने के लिए थोड़े ही हो। तुम मेरी मूल रकम ब्याज सहित लौटा देना। उस पूँजी से जो कमाओ वह तुम्हारा है। उसे मैं नहीं माँगूंगा। उसका अपनी मर्जी के अनुसार भोग कर सकते हो। आखिर लड़कों को यह शर्त मंजूर करनी पड़ी। उन्होंने कहा- तो ठीक है, हम परदेश जाकर कमा खाएँगें। सब ने पूँजी ले ली और परदेश के लिए विदा हो गए।

सब लड़के चले गए, तो सेठ ने धन का बैल बनाना शुरु किया। बैल बनाने में उसका सारा धन लग गया। तब उसे जोड़ी बनाने की सूझी। बिना जोड़ी एक बैल किस काम का। और उसी तरह का दूसरा बैल बनाने के लिए वह अँधेरे-अँधेरे जंगल में जाता, लकड़ियाँ इकट्ठी करता और बेचता था। लकड़ियों से करोड़ों की पूर्ति हो सकती

थी ? यह तो मम्मण सेठ भी समझता होगा, परन्तु मोह ही तो ठहरा । आसक्ति बड़ी विचित्र वस्तु है ।

राजा श्रेणिक ने मम्मण सेठ की हकीकत सुनी और भगवान् महावीर से उसके विषय में पूछा । भगवान् ने कहा- मम्मण सेठ पूर्व जन्म में बहुत गरीब था । एक बार बिरादरी में भोज हुआ और लड्डू बाँटे गए । इसने लड्डू रख लिए । सोचा- भूख लगेगी तब खाऊँगा । जब वह गाँव के बाहर आया और एक जगह तालाब के किनारे खाने को बैठा, तब उसे एक साधु आता दिखाई दिया । उसके जी में आया- आज अच्छा मौका मिल गया है, तो साधु को भी आहार दान दूँ ।

यह सोचकर उसने मुनि को निमन्त्रण दिया और बहुत आग्रह किया । मुनि ने कहा- इच्छा है, तो थोड़ा-सा दे दो । उसने थोड़ा-सा दे दिया और सन्त लेकर चला गया । बाद में वह खुद खाने को बैठा, तो लड्डू बड़ा ही स्वादिष्ट था । लड्डू की उस मिठास ने मुनि को दान देने के उसके रस को बिगाड़ दिया, उसके हर्ष को विषाद के रूप में बदल दिया, उसकी प्रसन्नता को पश्चाताप के रूप में पलट दिया । वह सोचने लगा- कहाँ से ये आ गए । इन्हें भी आज ही आना था । यह तो सन्त हैं और इन्हें तो रोज-रोज ही लड्डू मिल सकते हैं । मुझे कौन-से रोज मिलते हैं । इन्हें भी आज ही आने की सूझी, आज तक तो मेरे यहाँ आए नहीं और आए भी तो आज आए, व्यर्थ ही मैंने लड्डू दे दिया ।

इस प्रकार लड्डू देने के लिये वह पश्चाताप करने लगा । उसने पापानुबन्धी पुण्य बांध लिया और उसी का यह परिणाम है कि लक्ष्मी पा करके भी वह सत्कार्यों में खर्च नहीं कर सकता । पापानुबन्धी पुण्य का बन्ध करने वाला मनुष्य आगे चल कर धन के बन्धन में बंध जाता है

> *प्रभो ! मुझे धन मिले, तो उसके साथ उसका सदुपयोग करने की बुद्धि भी मिले। मेरे जीवन का भी निर्माण हो, समाज तथा परिवार का भी निर्माण हो।*

और उस धन को पुण्यार्थ व्यय न करके पाप में ही खर्च करता है ।

मनुष्य धन पाता है, तो उसमें सद्‌भावनाएँ भी जागृत होनी चाहिए, जिससे वह अच्छे रूप में उसे खर्च कर सके और उसके जहर को अमृत का रूप प्रदान कर सके ।

पुराने आचार्यों की गाथाओं में ऐसी प्रार्थनाएँ भी आती है कि प्रभो ! मुझे धन मिले, तो उसके साथ उसका सदुपयोग करने की बुद्धि भी मिले । मुझे सम्पत्ति मिले, किन्तु ऐसी सद्‌भावना भी मिले कि मैं उसका उपयोग कर सकूँ- उसे भले काम में लगा सकूँ । उसका ऐसा उपयोग कर सकूँ कि मेरे जीवन का भी निर्माण हो और समाज तथा परिवार का भी निर्माण हो । भगवन् ! ऐसी वृत्ति मुझे देना ।

भारतीय ग्रन्थों में ऐसे उल्लेख मिलते हैं । उनका उद्देश्य यही है कि मनुष्य जब तक गृहस्थी में रह रहा है, उसे सम्पत्ति की आवश्यकता रहती ही है, परन्तु जब सम्पत्ति मिले, तो उपभोग करने की वृत्ति भी मिलनी चाहिए । प्राप्त सम्पत्ति का सदुपयोग करके जो अपने पथ को प्रशस्त, उज्ज्वल और मंगलमय बना लेता है, जो अपनी सम्पत्ति को अपने जीवन निर्माण में सहायक बना लेता है, उसी का सम्पत्ति पाना सार्थक है । अपरिग्रह का आदर्श यही है कि जो त्याग दिया सो त्याग दिया । उसकी आकांक्षा करने की आवश्यकता नहीं । किन्तु जो रख लिया गया है, उसका उपयोग किस प्रकार किया जाए- सोचना तो यह है । और यही महत्व की बात है ।

देखना होगा कि जो धन रख लिया गया है, वह धनी के ऊपर सवार है या धनी धन के ऊपर सवार है ? गाड़ी या घोड़ा जो आपने रख छोड़ा है, वह आपकी सवारी के लिए है, अपने ऊपर सवार करने के लिए नहीं है, इसी प्रकार धन भी आपके ऊपर सवार होने के लिए नहीं होना चाहिए । जब तक आपके पास धन-सम्पत्ति है, आपको उस पर सवार होकर जीवन की यात्रा तय करनी है, यह नहीं कि उसे अपने ऊपर सवार करके चलना है ।

मतलब यह है कि यदि बुद्धि जागृत हो गई है, शुभ-संकल्प और पवित्र भावना जाग गई है, तो परिग्रह के द्वारा भी सुन्दर भविष्य का निर्माण किया जा सकता है । अगर आपने ऐसा किया, तो इसका अर्थ यह है कि आप धन पर सवार हैं, धन आप पर सवार नहीं है । परिग्रह को रखे रहना, उससे चिपटे रहना, न खुद खाना और न किसी शुभ कार्य में खर्च करना, यह मूर्च्छा का लक्षण है, आसक्ति है और यही संसार-परिभ्रमण की जड़ है ।

एक व्यक्ति ऐसा है, जिसके पास वस्तु थोड़ी है, फिर भी समय आने पर वह उसका उपयोग करने से नहीं चूकता, तो चाहे वह वस्तु कौड़ी की हो या लाख की, अपरिग्रह ही है ।

कोई साधु हो या गृहस्थ हो, आवश्यकता दोनों को रहती है । ऐसा तो नहीं है कि मेरे शरीर का वस्त्र देवता द्वारा बनाया हुआ है और आपके वस्त्र जुलाहे ने बनाए हों । कपड़ा तो जुलाहा बुनता है और क्या साधु का और क्या श्रावक का, कपड़ा तो कपड़ा ही है । फिर यह कैसे हो सकता है कि गृहस्थ के पास रखा हुआ कपड़ा तो परिग्रह हो जाए और साधु के पास रखा हुआ कपड़ा परिग्रह न हो ? साधु परिग्रह

की कामना नहीं करता, यह ठीक है, मगर इसलिए वह अपरिग्रही नहीं कहा जा सकता, रोटी जब तक आपके पास रहे, तब तक तो परिग्रह कहलाए और सन्त के पात्र में डालते ही अपरिग्रह हो जाए, यह क्या बात है ? सन्त ने कौन-सा जादू कर दिया कि वह परिग्रह से अपरिग्रह बन गई ?

इधर यह भी नहीं माना जा सकता कि साधु परिग्रह की मर्यादा करता है । साधु तो तीन करण और तीन योग से परिग्रह का त्याग करता है, फिर मर्यादा कैसी ? मर्यादा करे, तो फिर श्रावक और साधु में अन्तर भी क्या रहे ? तो प्रश्न होता है- फिर क्या माना जाए ? क्या यह मान लिया जाए कि साधु परिग्रह का त्याग करके भी परिग्रह रखता है ? अगर ऐसा है, तो उसका दर्जा आराधक का न होकर विराधक का हो जाता है और एक तरह से वह श्रावक की अपेक्षा भी हीन कोटि में चला जाता है । फिर गृहस्थ परिग्रह का त्याग करके भी परिग्रह क्यों न रखने लगें ?

इस बात का निर्णय हम भगवान् महावीर की उस पतित-पावनी वाणी के द्वारा करेंगे, जिसने आज से 2500 वर्ष पूर्व हमारे जीवन के लिए शुभ सन्देश दिया है । दशवैकालिक सूत्र में कहा है-

जं पि वत्थं च पायं वा, कंबलं पायपुच्छणं ।
तं पि संजम-लज्जट्ठा, धारेंति परिहरेंति य ।।
ण सो परिग्गहो वुत्तो, णायपुत्तेण ताइणा ।
मुच्छा परिग्गहो वुत्तो, इइ वुत्तं महेसिणा ।।

वस्तु होना एक चीज है और परिग्रह की वृत्ति-ममता-मूर्च्छा रखना दूसरी चीज है । शास्त्रकार वस्तुओं को परिग्रह इसलिए कह देते

है कि उन वस्तुओं पर से ममता-आसक्ति दूर हो जाए और परिग्रह की वृत्ति या आसक्ति हटाकर ही मनुष्य हल्का बन सकता है । मूर्च्छा ही वस्तुतः परिग्रह है ।

हमारे पुराने सन्त मक्खियों का दृष्टान्त दिया करते थे । एक मक्खी मिश्री पर बैठी है । वह उसकी मिठास का आनन्द ले रही है । परन्तु ज्यों ही हवा का झौंका आता है, वह वहाँ बैठी नहीं रहती, झटपट उड़ जाती है । पर शहद की मक्खी, चाहे कितने ही हवा के झौंके आएँ, कुछ भी हो जाए, शहद से चिपटी बैठी रहेगी । उसी में फँसी रहेगी । चाहे उसके प्राण ही क्यों न चले जाएँ, मनुष्य को भोगों में अनासक्त होना चाहिए । संसार में रहते हुए मनुष्य को पहली मक्खी की तरह बैठना चाहिए । ऐसा करने से वह तत्काल बन्धनों को तोड़ सकता है ।

मुझे एक गृहस्थ की बात याद आ रही है । वह खेतानजी कहलाता था । उसने अपनी बहुत गरीबी की हालत में, कलकत्ते में, एक दुकान खोलली । भाग्य चमका और थोड़े ही वर्षों में उसके वारे-न्यारे हो गए । खूब पैसा कमाया । एक बार उसके गाँव (जन्मभूमि) के लोग गौ-शाला के निमित्त चन्दा करने गए । गायों की हालत उस समय बहुत खराब हो रही थी । गाँव के लोगों ने गौ-शाला खोलने का विचार किया, परन्तु पैसे के बिना यह काम कैसे हो सकता था ? गाँव वाले तो सब वहीं पापड़ बेल रहे थे । उनके पास गौ-शाला बनाने के लिए पैसे कहाँ थे ? अतएव गाँव वालों ने, दिसावर में जाकर व्यापार करने वाले अपने ग्रामवासियों से रुपया लाने का निश्चय किया । वे कलकत्ते में खेतानजी के पास पहुँचे । कहा- देखिए गाँव में गायों की हालत बद से बदतर हो रही है । अतएव हमने एक गौशाला खोलने का विचार किया है । उसकी व्यवस्था आपको करनी पड़ेगी । हम लोगों में इतनी शक्ति है नहीं ।

खेतानजी बोले- हम यहाँ बैठे-बैठे अपने घर की भी व्यवस्था नहीं कर पाते, तो गौ-शाला की व्यवस्था कैसे करेंगे ? गाँव वालों ने कहा- हम तो आपके भरोसे पर ही आए हैं । खेतानजी- देखो, आप लोग इतनी दूर से मेरे भरोसे आए, तो मैं यही कर सकता हूँ कि कुछ रकम दे दूँ । पर व्यवस्था वगैरह तो मुझसे कुछ हो नहीं सकेगी । पहले आप लोग उस गद्दी से लिखा लाओ, उसके बाद मैं लिख दूँगा । कलकत्ते में ही उसी गाँव के एक दूसरे सेठ की दुकान और थी । गाँव के लोग वहाँ पहुँचे, तो सेठजी ने कह दिया- पहले उन्हीं से लिखा लाओ । वही बड़ी गद्दी है ।

बेचारे गाँव वालों ने दो-चार बार चक्कर काटे, परन्तु किसी ने भी रकम न चढ़ाई । दोनों ओर से वही उत्तर मिलता था । वे सोचने लगे, ये क्या करेंगे ! यह उस पर और वह इस पर टाल रहा है । गौ-माता के नाम पर थोड़ा बहुत देना है, वह भी नहीं दिया जाता । सब आशा निराशा हो में परिणत हो गई । फिर भी उनके मन में अभी आशा की क्षीण रेखा थी । वे खेतान सेठ के पास आए कहने लगे- अब आप जो कुछ देना चाहते हों दे दें, हम तो फिरते-फिरते हैरान हो गए । अब आपसे कुछ नहीं कहेंगे । जो कहना था, सब कह दिया है ।

खेतान जी के मन में अन्तर्जागरण हुआ । अरे, ये मेरे भरोसे आए हैं । कहाँ तो मैं गरीब का लड़का था, कहाँ आज लाखों का कारोबार लेकर बैठा हूँ । मेरे घर में क्या था ! कुछ नहीं । फिर भी साहस करके अपने हाथों इतना पैसा कमाया है । पैसा तो हाथ का मैल है । यह अवसर क्या बार-बार हाथ आने वाला है ? मैं अपने ग्राम वालों को निराश नहीं करूँगा ! और इसके बाद सेठजी ने एक धोती, लोटा और डोर हाथ में लेकर दुकान से नीचे उतरते हुए कहा- लो, मैं यह

> *भगवान् महावीर परिग्रह पर सीधी चोट नहीं करते, पर परिग्रह की वृत्ति पर सीधा प्रहार करते हैं।*

सारी दुकान तुम्हें समर्पण करता हूँ। मेरे पास क्या था ? आज मैंने काफी कमा लिया है। लोगों में मेरी इज्जत-आबरू भी है। मैं कहीं भी दुकान खोलकर बैठूँगा तो कमा खाऊँगा !

गाँव वाले खेतान की यह उदार वृत्ति देखकर दंग रह गए। सेठजी उस दुकान से उतर कर फिर नहीं चढ़े। उन्होंने दूसरी जगह अपना व्यापार किया। यह दान नहीं, महान् त्याग था।

यह उदाहरण क्या बतलाता है ! यही कि मनुष्य को संसार में पहली मक्खी की तरह बैठना चाहिए कि जब कभी ममता छोड़ने का अवसर आए, तो छोड़कर दूर हट जाए। इन्सान में अजब शक्ति है। उसमें जब ममत्व को तोड़ने की वृत्ति आती है, तब एक मिनट भी नहीं लगती। उस बन्धन को तोड़कर झटपट अलग हो जाता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर परिग्रह पर सीधी चोट नहीं करते, पर परिग्रह की वृत्ति पर सीधा प्रहार करते हैं।

भारतवर्ष में बड़े-बड़े साम्राज्यवादी और चक्रवर्ती आदि आए, परन्तु जब उन्हें परिग्रह छोड़ना हुआ, तो एक मिनट में छोड़कर अलग हो गए। साँप केचुली को ठुकरा कर जैसे उसकी ओर झांकता भी नहीं है, उसी तरह उन्होंने अपने वैभव को ठुकरा कर वापिस देखा तक भी नहीं। वे साधु बन गए। साधु बन कर भी उन्होंने वस्त्र और पात्र आदि रखे, किन्तु उनकी वृत्ति में उन वस्तुओं पर आसक्ति नहीं थी, ममता नहीं थी। अतएव वे वस्तुएं परिग्रह रूप भी नहीं थीं। निष्कर्ष यह

निकला कि जितने अंश में ममत्व है, उतने ही अंशों में परिग्रह है । जहाँ ममता नहीं, वहाँ बन्धन भी नहीं ।

एक चींटी है । उसके पास शरीर को छोड़कर और क्या है ? वह शरीर को लेकर चल रही है । उसके पास वस्त्र का एक तार भी नहीं है । दूसरी तरफ एक चकवर्ती है । वह लाखों-करोड़ों की सम्पत्ति का मालिक है । मैं पूछता हूँ, परिग्रह किसमें ज्यादा है । ममत्व का त्याग दोनों ने नहीं किया है । चक्रवर्ती ने भी कोई मर्यादा नहीं की है, वस्तुओं को सीमित नहीं किया है, तो दोनों जगह परिग्रह है । दोनों में ही मूर्च्छा भाव है ।

आखिर, परिग्रह अव्रत में ही है । एक भिखारी फटा वस्त्र का टुकड़ा लेकर फिरता है और उसने कोई व्रत-प्रत्याख्यान नहीं लिया है, तो वह परिग्रह के अन्दर है, भले ही उसके पास ज्यादा सामग्री नहीं है । परन्तु राजा चेटक इतना बड़ा धनी और वैभव का स्वामी होने पर भी अपरिग्रही था । इसका कारण यही था कि उसने श्रावक के व्रत ले लिए थे, वह व्रती था । पर गलियों के भिखारी ने कोई व्रत-नियम नहीं लिया था । अतएव अपरिग्रही राजा चेटक ही ठहरा, भिखारी नहीं । राजा चेटक ने सभी कुछ होते हुए भी परिग्रह की वृत्ति तोड़ दी थी, परन्तु भिखारी, अपने पास कुछ न होते हुए भी परिग्रहवृत्ति को, लालसा को लिए फिर रहा था । अतएव वह अपरिग्रह नहीं कहला सका था ।

तात्पर्य यह है कि जहाँ परिग्रह की लालसा है, लोभ है, ममता है और आसक्ति है, वहीं परिग्रह है, चाहे बाह्य वस्तु पास में हो न हो, जहाँ लालसा और ममता नहीं है, वहाँ चकवर्ती की ऋद्धि भी अपरिग्रह है । इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि साधु वस्त्र-पात्र आदि बाह्य पदार्थ

रखते हुए भी परिग्रही नहीं है । ज्ञातपुत्र ने मूर्च्छा-आसक्ति को परिग्रह कहा है । ममता-भाव को परिग्रह कहा है ।

आज विश्व में और विशेषतः इस देश में भगवान् महावीर के इस अपरिग्रह-व्रत का पालन करने वालों की बहुत आवश्यकता है । जो धनवान हैं, उन्हें सोचना चाहिए कि आखिर वे किस प्रयोजन से अधिक धन कमा रहे हैं ? वे अधिक धन कमा कर उसका क्या करेंगे ? क्या समस्त देश हमारा कुटुम्ब नहीं है ? यदि समस्त देश हमारा विशाल कुटुम्ब ही है और वास्तव में है भी तो देश के हित के लिए, आवश्यकता पड़ने पर क्या अपना सर्वस्व त्याग देने के लिये तैयार नहीं रहना चाहिये ? ऐसा नहीं कि धन कमा कर वह साँप की तरह अकेला ही उस पर बैठ जाए और उसे जरा भी इधर-उधर न होने दे ।

परिग्रह की मर्यादा करते समय उसे समझ लेना चाहिए कि मैं भविष्य में मर्यादा से अधिक किसी भी वस्तु की कामना नहीं करूँगा । मर्यादा करते समय उसके पास जितनी धन-सम्पत्ति है, उससे अधिक की भी वह मर्यादा कर सकता है और जितनी है उतनी की भी ! मान लीजिए, एक गरीब है और उसे रोटी के भी लाले पड़े हुए हैं । वह मर्यादा करेगा, तो यही सोचकर करेगा कि अभी मेरे पास कुछ भी नहीं है, किन्तु सम्भव है, भविष्य में सम्पत्ति हो जाए । यही सोचकर वह एक लाख की सम्पत्ति की मर्यादा करता है और संकल्प कर लेता है कि एक लाख से अधिक सम्पत्ति की मैं इच्छा नहीं करूँगा । तो वह अपनी सीमा-रहित कामनाओं को सीमित करता है और वासनाओं के समुद्र में से एक बूँद के बराबर वासना रख छोड़ता है । दुनियाँ के अपरिमित धन में से अपने निर्वाह के लिए परिमित धन की ही मर्यादा करता है और शेष धन के प्रति ममत्व-हीन बन जाता है । उस शेष धन की

उपेक्षा, जिसकी ममता का उसने त्याग किया है, वह अपरिग्रह है ।

किन्तु एक धनी व्यक्ति है और उसके पास करोड़ों की सम्पत्ति है, वह परिग्रह की मर्यादा करते समय एक अरब की मर्यादा करे, तो यह कोई सिद्धान्त नहीं है । ऐसा करने से इच्छापरिमाण-व्रत के शब्दों का पालन भले हो, पर व्रत के मूल उद्देश्य का पालन नहीं होता, क्योंकि जहाँ तक जीवन-निर्वाह का प्रश्न है, उसके लिए करोड़ों की सम्पत्ति भी अधिक और अनावश्यक है; फिर वह उसे और क्यों बढ़ाना चाहता है ? अगर वह बढ़ाना चाहता है, तो उसकी इच्छा पर ब्रेक कहाँ लगा है ? दरिद्र की बात तो समझ में आ सकती है, परन्तु इस धनी की बात समझ में नहीं आती ।

आखिर व्रती और अव्रती में कुछ अन्तर होना चाहिए और वह सकारण होना चाहिए । व्रत लेने से पहले मनुष्य में जितनी तृष्णा, लालसा और ममता थी और धन प्राप्ति के लिए हृदय में व्याकुलता थी, वह व्रत लेने के बाद कम होनी चाहिए । अगर वह कम नहीं हुई हैं और ज्यों की त्यों बनी हुई है, तो व्रत लेने का उद्देश्य पूरा नहीं हुआ है । करोड़ों की सम्पत्ति होने पर भी और इच्छा परिमाण-व्रत लेकर भी जो रात-दिन हाय पैसा, हाय पैसा, किया करता है और अरबपति बनने के लिए मरा जा रहा है; कहना चाहिए कि उसने इच्छापरिमाण-व्रत का रस नहीं चखा, उसके माधुर्य का रसास्वादन नहीं किया । उसके अन्तर्जीवन पर उस व्रत का कोई प्रभाव नहीं पड़ा । वह अब भी परिग्रह को विष नहीं, अमृत समझ रहा है; क्योंकि जीवन निर्वाह के लिए और संचय की आवश्यकता न होने पर भी वह संचय में निरत रहता है । रात-दिन समेटने में लगा है ।

आशय यह है कि जिसने परिग्रह को पाप का मूल समझ लिया है, जो परिग्रह को इस जन्म में भी व्याकुलता और अशान्ति का कारण समझ चुका है और परलोक में भी अहितकर और अकल्याणकर जान चुका है, वह अनावश्यक संचय के लिए कदापि प्रवृत्त नहीं होगा। यदि प्रवृत्त होता है, तो मानना पड़ेगा कि वास्तव में उसने परिग्रह के दोषों को नहीं समझा है, वह झूठ-मूठ ही व्रती श्रावक की कोटि में अपना नाम दर्ज कराने के लिए व्रत लेने का दंभ कर रहा है।

अपरिग्रह व्रत का आगे जो फल होगा, सो तो होगा ही, परन्तु इसी जन्म में उसका महान् फल मिल जाना चाहिए। व्रत अंगीकार करते ही अन्तर में जलने वाली तृष्णा की आग बुझ जानी चाहिए, निस्पृह-भाव की वृद्धि होनी चाहिए और जीवन में धन के प्रति स्निग्धता कम और रुक्षता अधिक होती जानी चाहिए। शान्ति, निराकुलता और तृप्ति का अनिर्वचनीय आनन्द बढ़ता जाना चाहिए। इसी में इच्छा परिमाण-व्रत की सार्थकता है। यही व्रत का महान् उद्देश्य है। एक आचार्य कहते हैं-

संसार-मूलमारम्भास्तेषां हेतुः परिग्रहः।
तस्मादुपासकः कुर्यादल्पमल्पं परिग्रहे ॥

आरम्भ से जन्म-मरण होते हैं और आरम्भ का हेतु परिग्रह है। परिग्रह के लिए ही मनुष्य नाना प्रकार के पाप-कर्मों में प्रवृत्त होते हैं। अतएव जो उपासक बना है, श्रावक बना है, और जिसने इच्छापरिमाण व्रत अंगीकार किया है, उसे परिग्रह को क्रमशः घटाते जाना चाहिए।

कितनी साफ दृष्टि है ! व्रत लेने के पश्चात् परिग्रह घटना चाहिए, बढ़ने का तो प्रश्न ही नहीं है। जो परिग्रह को पापमूल और

अनर्थकर समझ लेगा, वह उससे दूर ही भागने का प्रयत्न करेगा । अगर पारिवारिक आवश्यकताएँ उसे बाधित करेंगी, तो भी वह अनावश्यक परिग्रह से तो बचता ही रहेगा, उसके मन में धन की तृष्णा नहीं होगी । वह धन से प्रेम नहीं करेगा, भले ही कटु औषध के समान उसका सेवन करना पड़े ।

चित्तेऽन्तर्ग्रन्थ-गहने बहिर्निर्ग्रन्थता वृथा ।

यदि चित्त में से परिग्रह सम्बन्धी आसक्ति न निकली या कम न हुई और वह ज्यों की त्यों बनी रही, तो फिर ऊपर से अपरिग्रह व्रत या परिग्रह परिमाण व्रत को अंगीकार कर लेना भी कुछ अर्थ नहीं रखता । उसका व्रत लेना, अर्थ-हीन है ।

ऐसा सोचकर, जिन्हें वैभव प्राप्त है, उन्हें अपनी इच्छाओं पर ब्रेक लगाना चाहिए और जिनके पास कुछ नहीं है, उन्हें अपना जीवन चलाने के लिए कुछ मर्यादा करके शेष पर ब्रेक लगा लेना चाहिए । जैन धर्म तो अनेकान्तवाद पर चलता है । उसके यहाँ एकान्त नहीं है । जिन्हें सुखमय जीवन व्यतीत करना हो और स्वर्गीय सुखों का झरना यहीं बहाना हो, उन्हें जैनधर्म के अपरिग्रह व्रत के राजमार्ग पर चलने का प्रयास करना चाहिए ।

दि. 20.11.50

ब्यावर (अजमेर)

आज की दुनियाँ में परिग्रह के लिए जो अविश्रान्त दौड़-धूप हो रही है, उसके अन्यान्य कारणों के साथ अनुकरण भी एक मुख्य कारण है। आज धनी बनने की होड लग रही है। प्रत्येक एक-दूसरे से बड़ा एवं धनी बनने की इच्छा रखता है और इसी चाह ने समग्र विश्व को संघर्षों की क्रीड़ा-स्थली बना रखा है। इस चाह ने जैसे व्यक्तिगत जीवन को अशान्त और असन्तुष्ट बना दिया है, उसी प्रकार राष्ट्रों को भी अशान्त और असंतुष्ट बना रखा है। नतीजा जो है, वह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है। न व्यक्ति सुखी है, न राष्ट्र ही।

आसक्ति : परिग्रह

जो साधना अन्तर से उद्‌भूत होती है और जीवन का अंग बन जाती है, वह शक्ति प्रदान करती है, जीवन को प्रगति की ओर ले जाती है; किन्तु जो साधना ऊपर से लादी गई है, वह जीवन का बोझ बन जाती है । उससे जीवन पनपता नहीं, बढ़ता नहीं; बल्कि उसकी प्रगति रूक जाती है ।

इस तथ्य को ध्यान में रखकर कोई भी साधक जब साधना के लिए उद्यत हो, तो उसे अपनी आन्तरिक तैयारी का विचार कर लेना चाहिए । इस आन्तरिक तैयारी के अनुसार ही साधना के पथ पर अग्रसर होना चाहिए ।

जो साधक पूर्ण साधना के भार को उठा सकता है और उस भार को उठाकर गड़बड़ाता नहीं है, उस साधक के लिए अपूर्ण साधना का कोई अर्थ नहीं है । वह पूर्ण साधना के पथ पर चलता है और ऐसा साधक साधु कहलाता है । जो साधक अपनी समस्याओं में उलझा हुआ है, परिस्थितियों के कारण पूरे वजन को नहीं उठा सकता है, वह अल्प साधना के पथ का अवलम्बन लेता है, वह साधक श्रावक कहलाता है ।

यद्यपि साधक अल्प साधना के पथ पर चल रहा है, परन्तु उसका लक्ष्य तो वही है । अल्प साधना करता हुआ भी वह पूर्ण साधना

प्राप्त वस्तु भी परिग्रह है तथा जिनकी कामना की जा रही है, वे अप्राप्त वस्तुएँ भी परिग्रह ही हैं ।

की ओर बढ़ता है । श्रावक आनन्द ने अणु साधना का पथ ग्रहण किया और उसके परिग्रह-परिमाण-व्रत का जिक्र चल रहा है ।

परिग्रह की चर्चा के सिलसिले में हमें विचार करना है कि वास्तव में परिग्रह अपने आप में क्या है ? जो वस्तु प्राप्त है, वही परिग्रह होती है या जो नहीं प्राप्त है, वह भी परिग्रह हो सकती है ? अर्थात् मनुष्य को जो चीज मिल गई है, जो उसके नियन्त्रण या अधिकार में है, क्या उसी को परिग्रह माना जाए ? या जो चीजें मिली नहीं हैं और जो सुख के साधन संसार भर में फैले हुए हैं, उन्हें भी परिग्रह कहा जा सकता है ?

इस प्रश्न के उत्तर में जैन धर्म ने और उसके अन्य साथियों ने भी कहा है कि केवल प्राप्त वस्तुओं का संग्रह ही परिग्रह नहीं है, किन्तु जो अप्राप्त हैं, यानी प्राप्त नहीं की गई हैं, पर उनके लिए तमन्नाएँ हैं, लालसाएँ हैं- वे भी परिग्रह हैं । इस प्रकार प्राप्त वस्तु भी परिग्रह है तथा जिनकी कामना की जा रही है, वे अप्राप्त वस्तुएँ भी परिग्रह ही हैं ।

सिद्धान्त के रूप में यही आदर्श है । यहाँ प्रश्न उठता है कि आखिर ऐसा क्यों है ? जो वस्तु प्राप्त की जा चुकी है, उसके परिग्रह होने में तो कोई असंगति नहीं है । किन्तु जो मिली नहीं है या प्राप्त नहीं है, उसे परिग्रह कैसे कहा जा सकता है ? अगर अप्राप्त वस्तु को भी परिग्रह मान लिया जाता है, तो फिर श्रावक के परिग्रह त्याग का अर्थ ही क्या है ? आनन्द ने परिग्रह का त्याग किया है, तो क्या किया है ? उसके पास जो कुछ था, सब का सब उसने रख लिया है । अपनी सम्पत्ति में से कुछ भी नहीं छोड़ा है । एक कौड़ी का भी त्याग नहीं किया है । भगवान्

महावीर ने भी उससे नहीं कहा कि अरे ! तेरे पास बहुत है, तो उसमें से कुछ छोड़ दे, त्याग दे । जितना-जितना त्याग होता है, उतना-उतना ही लाभ है ।

यह तो मैं पहले ही कह चुका हूँ कि जैनधर्म इच्छा-प्रधान धर्म है । वह साधक के दिल को प्रेरित करता है, उत्तेजित करता है, और उसमें जागृति उत्पन्न करता है । वह रोशनी पैदा करके अन्धकार को दूर कर देता है । उसके बाद साधक जितनी तैयारी कर चुका है और उसका मन जितना आगे पहुँच चुका है, वह अपने आपको खोल देता है । वह जितना ही अपने आपको खोलता है, उतना ही ऊपर उठता है । भगवान् महावीर ऐसे प्रसंगों पर यही कहा करते थे- **जहा सुहं देवाणुप्पिया! मा पडिबंधं करेह।** अर्थात् देवों के प्यारे ! जिसमें तुम्हें सुख प्राप्त हो, वैसा करो और वैसा करने में विलम्ब भी मत करो ।

> *देवों के प्यारे ! जिसमें तुम्हें सुख प्राप्त हो, वैसा करो और वैसा करने में विलम्ब भी मत करो।*
>
> *जिस सत्कर्म के लिए तुम्हारे हृदय में प्रेरणा जगी है, उसे झटपट कर लेना ही उचित है।*

तुम्हारा मन गति करने को तैयार हो गया है और रसायन बनाने का समय आ गया है, तो फिर देर काहे की । फिर देर की तो सम्भव है, ऐसा कोई आदमी मिल जाए जो उस मन को बिखेरे दे और पीछे हटा दे । अतएव जिस सत्कर्म के लिए तुम्हारे हृदय में प्रेरणा जगी है, उसे झटपट कर लेना ही उचित है । लोक में भी 'शुभस्य शीघ्रम्' वाली उक्ति प्रचलित है । यही आदर्श है, सिद्धान्त का । इस रूप में हम देखते हैं कि अपार सम्पत्ति होने पर भी

> इच्छा-योग ही सहज धर्म है।
>
> दबाव का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। दबाव भी हिंसा है।

भगवान् ने आनन्द से यह नहीं कहा कि इसमें से जरा कम करो । खाने-पीने की चीजें हैं तो क्या, गायें हैं तो क्या और नकद-नारायण हैं तो क्या, आनन्द के पास जो कुछ भी था, वह सब उसने रख लिया । भगवान् ने उसमें से कम करने के लिए आनन्द पर तनिक भी दबाव नहीं डाला । क्योंकि इच्छा-योग ही सहज धर्म है ।

मैं समझता हूँ, धर्म के लिए कोई दबाव डालने की आवश्यकता नहीं हैं । कौन आदमी कितना दान करता है या तपस्या करता है या दूसरी साधनाएँ करता है, यह उसकी इच्छा पर निर्भर होना चाहिए । वह जिस रूप में तैयारी करके आया है, उतनी ही सिद्धि जागेगी । तुम्हारे अन्दर शक्ति है तुम उसके मन को बदल सकते हो उसका विकास कर सकते हो, और यह सब उपदेश के रूप में ही कर सकते हो, दबाव से नहीं । दबाव का धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है । दबाव भी हिंसा है ।

जब से दबाव के साथ धर्म का सम्बन्ध जोड़ा गया है, लोगों के दिलों में धर्म के प्रति आस्था कम हो गई है । धर्म भी प्रकाश-हीन-सा हो गया है । तभी से इन्सान उसको वजन के रूप में ढ़ोता है । और वजन के रूप में ढ़ोता है, तो धर्म बोझिल हो जाता है । धर्म सहज नहीं रहता ।

जो धर्म बिना मन के किया जाता है, लज्जा तथा दबाव के

कारण किया जाता है; सारी जिन्दगी ढ़ोने के बाद भी वह इन्सान के मन में कोई उल्लास या प्रकाश पैदा नहीं कर सकता । यही कारण है कि आज के जितने भी धर्म, परम्पराएँ और पंथ हैं, उन सब के क्रिया-काण्ड निस्तेज हो गए हैं और वे मानव-जाति के अभ्युदय के उतने सशक्त साधन नहीं रहे हैं, जितनी उनसे आशा की जाती है । उनकी इस निस्तेजता में दबाव का भी हाथ है । अनिच्छा से धर्म नहीं होता ।

हाँ, तो भगवान् महावीर ने आनन्द पर कोई दबाव नहीं डाला कि वह अपनी प्राप्त सामग्री या सम्पत्ति में से किंचित् कम कर दे । आनन्द के पास जितनी वस्तुएँ थीं, उसने सब रख लीं और सिर्फ अप्राप्त वस्तुओं का त्याग किया । अब प्रश्न यह है कि जो चीज प्राप्त ही नहीं थी, उसका त्याग किया, तो क्या त्याग किया ? उस त्याग का अर्थ ही क्या हैं ?

लेकिन आनन्द ने ऐसा ही त्याग किया है । वह कोई साधारण श्रावक नहीं था । उसकी मुख्य दस श्रावकों में गणना की गई है । इसके अतिरिक्त जिनके समक्ष त्याग किया गया है, वह भी कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे । साक्षात् महाप्रभु महावीर के समक्ष यह त्याग किया गया है । अतएव यह तो असंदिग्ध है कि आनन्द का त्याग कोई ढोंग नहीं है, दंभ नहीं है, कोई फरेब नहीं है । आनन्द ने जो त्याग किया, उससे अपरिग्रह आया है, तो हमें अब इसी रोशनी में सोचना है कि वास्तव में परिग्रह क्या है ? वस्तु परिग्रह है या वस्तु की आकांक्षा परिग्रह है ?

सूत्र के शब्दों पर ध्यान दिया जाए, तो वहाँ एक महत्वपूर्ण और ध्यान आकर्षित करने वाला शब्द हमें मिलता है । शास्त्र में कहा गया है- 'इच्छा परिमाणं करेइ ।' अर्थात् आनन्द इच्छा का परिमाण करता है ।

यहाँ वस्तुओं के परिमाण की बात नहीं, इच्छाओं के परिमाण की बात आई है ।

सर्वप्रथम मनुष्य के मन में इच्छा जागृत होती है, संकल्प उठता है और उसके अनुसार वह दौड़ लगाता है एवं वस्तुओं का संग्रह करता है । अर्थात् पहले इच्छा होती है, फिर प्रयत्न होता है और उसके बाद वस्तुओं को इकट्ठा करने का प्रश्न आता है । परिग्रह के संचय का यह एक क्रम है ।

इसका अर्थ यह है कि यदि इच्छा ही न रहे, तो प्रयत्न भी नहीं होगा और जब प्रयत्न न होगा, तब वस्तुओं को इकट्ठा करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा । इस प्रकार सब से बड़ा और मूल-भूत परिग्रह इच्छा ही है । जहाँ इच्छा है, वहाँ प्राप्त और अप्राप्त-सभी वस्तुएँ परिग्रह ही हैं । कहा भी है-

मूर्च्छा-च्छन्न-धियां सर्व, जगदेव परिग्रहः ।
मूर्च्छया रहितानां तु, जगदेवापरिग्रहः ।।

जिसकी मनोभावना आसक्ति से ग्रस्त है, उसके लिए सारा संसार ही परिग्रह है, जो मूर्च्छा-ममता एवं आसक्ति से रहित है, उसके अधीन यदि सारा जगत् भी हो, तो भी वह परिग्रह नहीं है । जहाँ-जहाँ मूर्च्छा है, वहीं-वहीं परिग्रह है ।

एक भिखारी है और उसके पास कोई खास चीज नहीं है, किन्तु उसने अगर इच्छाओं को नहीं छोड़ा है, परिग्रह की वृत्ति को नहीं त्यागा है, इसके विपरीत वह सारे संसार की चीजों को चाहता है, तो सारा संसार ही उसके लिए परिग्रह है । वह इन्द्र नहीं है, चक्रवर्ती सम्राट् भी

नहीं है, फिर भी उनसे कम परिग्रही नहीं है। संभव है, उसकी एक भी स्त्री न हो, लेकिन उसने वासना का परित्याग नहीं किया है, तो वह संसार की स्त्रियों का परिग्रही है।

यही सिद्धान्त की बात है। इस प्रश्न को दार्शनिक कसौटी पर कस कर देखते हैं। मात्र ऊपर तैरते रहें, तो जीवन का आनन्द जिस गहराई में है, वह गहराई नहीं मिलेगी।

भगवान् महावीर का महत्वपूर्ण सन्देश यही आया कि सब से पहले इच्छाओं को कम और सीमित करना चाहिए। यही कारण है कि शास्त्र के मूल-पाठ में इच्छा के परिमाण की बात आई है। इच्छा का परिमाण कर लेने से वस्तु का परिमाण अपने आप हो जाता है। पहले अनागत के प्रवाह को रोकना आवश्यक है।

इस प्रकार अप्राप्त वस्तु नहीं, बल्कि अप्राप्त वस्तु की इच्छा परिग्रह है, प्राप्त वस्तु के विषय में भी यही बात समझनी चाहिए। अर्थात् प्राप्त वस्तु की इच्छा ही परिग्रह है। इच्छा का अभिप्राय यहाँ पर आसक्ति से है। प्राप्त वस्तुओं में आसक्ति न होना अपरिग्रह है। यदि यह अर्थ न लिया जाए और परिग्रह का अर्थ वस्तु लिया जाए, तो आनन्द के परिग्रह छोड़ने का कुछ अर्थ ही नहीं रहता, क्योंकि उसने किसी भी प्राप्त वस्तु को नहीं छोड़ा है। फिर भी उसने श्रावक के अनुरूप परिग्रह त्याग किया है, तो इसका अर्थ यही हो सकता है कि उसने इच्छा या आसक्ति का त्याग किया है। इसलिए इच्छा ही वास्तव में परिग्रह है।

परिग्रह होने और न होने के लिए यह आवश्यक नहीं कि वस्तु है या नहीं है; किन्तु इच्छा का होना और न होना आवश्यक है। अर्थात्

जहाँ इच्छा है, वहाँ परिग्रह है और जहाँ इच्छा का त्याग है, वहाँ परिग्रह का भी त्याग है ।

कल एक प्रश्न उपस्थित किया गया था । भिक्षु ज्ञान प्राप्ति के लिए पुस्तकें रखता है, भिक्षा के लिए पात्र रखता है और पात्र में आहार-पानी इकट्ठा कर लेता है; परिवार के रूप में शिष्य रख लेता है और जीवन के साधन- वस्त्र, ओघा, पूँजनी आदि उपकरण भी रखता है । इनमें से कुछ चीजें धर्म के लिए और कुछ जिन्दगी के लिए आवश्यक हैं । अब प्रश्न यह है कि इन सब चीजों के रहते हुए भिक्षु परिग्रही है या नहीं ? यदि वस्तु को परिग्रह मान लेंगे, तो भिक्षु को परिग्रही मानना पड़ेगा और परिग्रही माने बिना बच नहीं सकते है ।

हमें सिद्धान्त के रूप में और विवेक पूर्वक विचार करना है; सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से विचार नहीं करना है । अगर सम्प्रदाय के दृष्टिकोण से विचार करेंगे, तो बड़ी गलतफहमी में पड़ जाएँगे । अगर आपकी मान्यता के पीछे कोई सुदृढ़ आधार नहीं है, कोई तर्क और युक्ति नहीं है तो आप भले ही उसे मानते रहें, संसार मानने को तैयार नहीं होगा ।

हाँ, तो साधु वस्तु रखता है, किन्तु परिग्रही नहीं है, ऐसी हमारी मान्यता है और संसार भर के सभी दर्शनों के साधुओं के विषय में उन-उन दर्शनों की ऐसी ही मान्यता है । इसका अर्थ यह है कि साधु वस्तुएँ तो रखता है किन्तु परिग्रह नहीं रखता है ।

यह बात मैं उन साधुओं के विषय में कह रहा हूँ, जो वास्तव में साधु हैं और जो अपने धर्म के अनुसार चल रहे हैं । मैं केवल नामधारी साधुओं की वकालत नहीं कर रहा हूँ । हमें किसी वर्ग-विशेष

या व्यक्ति विशेष की वकालत करना भी नहीं हैं, करनी है तो सिर्फ सिद्धान्त की वकालत करनी है ।

तो, साधु के पास वस्तुएँ होने पर भी वह अपरिग्रही है । आपके पास लड़का है तो वह परिग्रह है; किन्तु साधु के पास शिष्य है, तो वह परिग्रह नहीं है । भगवान् महावीर के पास चौदह हजार साधुओं और छत्तीस हजार साध्वियों का परिवार था; किन्तु वह वृहत् परिवार, परिग्रह नहीं कहलाया और आपके पास दो तीन पुत्र हो गए तो वह परिग्रह का बढ़ना कहलाता है । हमें इसी मुद्दे पर विचार करना है । आखिर बात क्या है ?

आपकी जात-पांत हैं, वह परिग्रह है और हमारे गच्छ हैं, सम्प्रदायें हैं, किन्तु वह परिग्रह नहीं है ।

अर्थ यह निकला कि वस्तु हो या न हो यह मुख्य बात नहीं है, मुख्य तो ममता और आसक्ति का होना और न होना ही है । उपकरण, शिष्य और गच्छ होने पर भी साधु केवल ममत्व के अभाव के कारण अपरिग्रही होता है । यदि किसी साधु में इनके प्रति ममता है, आसक्ति है, तो फिर वह अपरिग्रही नहीं कहला सकता, चाहे उसका वेष कुछ भी क्यों न हो ।

किसी के पास वस्तु नहीं है, किन्तु वस्तु की इच्छा है, लालसा है और उसको प्राप्त करने के लिए गम्भीर भाव से तमन्नाएँ जाग रही हैं, तो समझ लीजिए कि वह परिग्रह के दल-दल में फँसा हुआ है । परिग्रह-विमुक्त नहीं है ।

एक बार हम एक गाँव में पहुंचे । वहाँ हमारे प्रति कोई श्रद्धालु नहीं था । अतएव हमें ठहरने के लिए गाँव में कोई जगह नहीं मिली ।

बड़ी मुश्किल से एक टूटा-फूटा शिवालय का खंडहर मिला और उसमें हम ठहर गए। वहाँ चार यात्री और भी ठहरे हुए थे। हम शाम को पहुँचे थे और वे पहले से ठहरे हुए थे।

वहाँ जो ठहरे हुए थे, उनमें से दो एक ही स्थान के थे और वे किसी काम से बाहर गए थे। उनमें से एक पहले आ गया और आकर उसने देखा कि कोई उसकी चीजें उठा ले गया है। आते ही उसकी निगाह अपनी चीजों पर पड़ी और जब चीजें दिखाई न दीं, तो वह समझ गया कि कोई उठा ले गया है; वह एकदम बड़ा निराश और हताश हो गया और गाँव वालों को हजारों-हजारों गालियाँ देने लगा। कहने लगा देना तो दूर रहा, उल्टा हमारा ही सामान उड़ा ले गए। बड़े दुष्ट हैं, इस गाँव वाले !

वह रंज में तो था ही, जब उसका साथी आया, तो उसे देखकर उसका रंज और बढ़ गया और वह रोने लगा। उसने कहा- इस गाँव में आकर तो तकदीर ही फूट गई ! कोई पापी कपड़े-लत्ते, बर्तन-भांड़े सब उठा ले गया। अब क्या होगा ?

उसके नये आये साथी ने कहा- वही आदमी, जो यहाँ बैठा हुआ था, ले गया होगा। पर उसका पता लगाना कठिन है। कौन जाने वह कौन था और कहाँ गया है ? खैर होगा कोई ! सामान ले गया तो ले गया, भाग्य तो नहीं ले गया। इस प्रकार कहकर उसने शोक-ग्रस्त साथी को सान्त्वना दी।

यह बात-चीत मैंने सुनी और सोचा- सामान दोनों का था, मगर चोरी हो जाने पर एक रोता है और दूसरा उसे सान्त्वना देता है। हानि दोनों की समान हुई है, किन्तु एक व्यथित हो रहा है और दूसरा कहता

है- हमारा भाग्य तो नहीं चला गया है, चोर चोर ही रहेगा एवं साहूकार साहूकार ही रहेगा । यह कहते हुए वह मुस्करा रहा है ! मैंने सोचा, इसने बड़ा सुन्दर सिद्धान्त बना लिया है ।

महेन्द्रगढ़ (पटियाला) में एक धनी मानी वेदान्ती सज्जन हमारे परिचय में आए । वे वेदान्त और जैनदर्शन आदि की चर्चाएँ किया करते थे । पहले तो साधुओं के पास उनका आना-जाना नहीं था, किन्तु हम पहुँचे तो वह आने लगे । उनके इकलौता लड़का था और वे गाँव के मालिक थे । उस एक लड़के पर ही उनका सारा दारोमदार था । वह लड़का बीमार पड़ा, तो वे उसका इलाज कराने के लिए बम्बई और कलकत्ता आदि कई जगह गए । पानी की तरह पैसा बहाया । यह हाल देख लोग टीका-टिप्पणी करने लगे । कहने लगे- वेदान्ती जी ! क्या यही वेदान्त का स्वरूप है ? मैंने उनसे कहा- भाई संसार में बैठे हैं, कर्तव्य तो करना ही पड़ता है । कोई अपने लड़के को यों ही कैसे मर जाने देगा ? यह तो संसार का व्यवहार है ।

आखिर, लड़का बच नहीं सका । बहुत प्रयत्न करने पर भी मर गया । वेदान्ती बड़े आदमी थे । गाँव वाले उनके यहाँ पहुँचे । बोले- पण्डितजी, बड़ा अनर्थ हो गया । आपके साथ बहुत बुरी बीती । एक ही लड़का था और वह भी नहीं रहा ।

इस प्रकार सान्त्वना देने वाले उन्हें रंज पैदा करने लगे, किन्तु वे स्वयं उन्हें सान्त्वना देने लगे- भैया ! हो क्या गया, जब तक उसका हमारे साथ सम्बन्ध था, रहा और जब सम्बन्ध टूटा, तो टूट गया । जो होना था, हो गया । आदमी क्या करे ? आदमी के हाथ में है क्या ? जब तक हमारे पास था, सब कुछ किया । बचाने की कोशिश की । सभी प्रयत्न

आने वाले को तो जाना ही होगा। मिलने वाले को बिछुड़ना ही होगा।

किये, इतने पर भी हाथ से निकल गया तो रोने से क्या होगा ?

और, आश्चर्य के साथ लोगों ने देखा कि उनकी आँखों से एक भी आँसूं नहीं निकला। इसी का नाम है- अनासक्त-योग !

आगरा के रतनलालजी को हम जानते हैं। उनका एक बड़ा होनहार लड़का था, कॉलेज में पढ़ता था। एक दिन वह यमुना में तैरने गया। छलांग लगाई और तैरता रहा। न मालूम क्या हुआ कि तैरते-तैरते डूब गया। खबर लगी और निकाल कर घर लाया गया। उस समय उसकी मामूली-सी सांस चल रही थी। तो आशा के बल पर हजारों रुपये खर्च कर दिए गए, यह सोचकर कि शायद लड़का बच जाए। उस समय वे बूढ़े भी नहीं थे और कोई बड़े दार्शनिक भी नहीं। किन्तु जब लड़का मर गया और नगर के लोग उनके यहाँ गए, तो लौटकर उन्होंने हमसे कहा- हमने अपने जीवन में एक भी ऐसा आदमी नहीं देखा, जो लम्बा-चौड़ा कारोबार करता हो और अपने लड़के को विदेश में भेजने का इरादा कर रहा हो, किन्तु अचानक उसके मर जाने पर एक भी आँसूं न बहाए। वास्तव में, उन्होंने एक भी आँसूं न बहाया- अपने होनहार नौजवान लड़के की मौत पर, उन्होंने कहा- आने वाले को तो जाना ही होगा। मिलने वाले को बिछुड़ना ही होगा। मैं पहले चला जाता या वह पहले चला गया। वह पहले चला गया, तो अपना वश ही क्या है ?

तो सबसे बड़ा और महत्वपूर्ण प्रश्न यही है कि मनुष्य के पास जो कुछ है, उस पर भी उसकी आसक्ति कम से कम हो जाए।

आसक्ति जितनी ही कम होती जाएगी, परिग्रह का अंश उतना ही कम होता जाएगा । इस प्रकार परिग्रह के रहते भी अपरिग्रही बनना एक उच्च श्रेणी की कला है और उस कला को कोई बड़ा कलाकार ही प्राप्त कर पाता है । इस कला को प्राप्त करने के लिए न गम्भीर शास्त्रों के ज्ञान की आवश्यकता है और न किसी विशिष्ट कर्म-काण्ड की । इसके लिए तो उस प्रकार का जीवन बनाने की ही आवश्यकता होती है । अपनी मनोवृत्ति का निर्माण करने से कला हस्त-गत हो जाती है । इस कला को जो हस्त-गत कर लेगा, वह संसार में किसी भी परिस्थिति में, दारुण से दारुण प्रसंग पर भी नहीं रोएगा । उसके पास हजारों-लाखों आएँगे और जाएँगे, परिवार घटेगा और बढ़ेगा एवं उथल-पुथल होगी, पर वह प्रत्येक अवसर पर अलिप्त रहेगा । सुख में मग्न होकर फूलेगा नहीं और दुख में मुरझाएगा भी नहीं ।

> *जो आने पर हर्ष और जाने पर विषाद नहीं करता, वही जीवन की कला को प्राप्त करता है ।*

कोई भी मनुष्य संसार का खुदा बन कर नहीं बैठ सकता । मनुष्य तो पामर प्राणी है । मिट्टी का पुतला है और धीमी-धीमी होने वाली हृदय की धड़कन पर उसकी जिन्दगी निर्भर हैं । उसकी अपनी जिन्दगी का भी क्या भरोसा है ? अभी है और अभी नहीं है । ऐसी स्थिति में दूसरी चीजों पर कैसी ममता ? कैसी आसक्ति ? वह तो आएगी भी और जाएगी भी । आने पर जो हँसेगा, जाने पर उसे रोना पड़ेगा । अतएव जो आने पर हर्ष और जाने पर विषाद नहीं करता, वही जीवन की कला को प्राप्त करता है । जिसके हृदय में आसक्ति नहीं है, तृष्णा नहीं है, राग नहीं हैं, वह प्रत्येक परिस्थिति में समभाव में रहेगा

> *जिस मनुष्य के जीवन पर इच्छा और आसक्ति ने कब्जा जमा रखा है, उसका जीवन शान्तिमय और सुखमय नहीं बन सकेगा।*

और तब तक कोई भी दुःख उसे स्पर्श नहीं कर सकेगा। समभाव के वज्र-कवच को धारण कर लेने वाले पर दुःखमय परिस्थिति का कुछ भी असर नहीं पड़ता। क्योंकि दुःख का मूल आसक्ति है।

इसके विपरीत जिस मनुष्य के जीवन पर इच्छा और आसक्ति ने कब्जा जमा रखा है, उसका जीवन शान्तिमय और सुखमय नहीं बन सकेगा। वह कदम-कदम पर रोता हुआ और झींकता हुआ चलेगा और सिद्धान्त की हत्या करते हुए चलेगा। वह जीवन में खड़ा नहीं रह सकेगा, वह तनिक भी यह नहीं सोचेगा कि उससे कोई अन्याय अथवा अत्याचार न हो जाये। उसके सामने यह प्रश्न ही उपस्थित नहीं होगा। वह किसी भी अन्याय और अत्याचार के लिए नहीं झिझकेगा और कुछ भी करने से नहीं हिचकेगा।

अभिप्राय यह है कि परिग्रह को इच्छा के रूप में समझना चाहिए। तमन्ना और लालसा के रूप में समझना चाहिए। जब ऐसा है, तब उसे छोड़ देने के बाद भी उसके लिए यदि लालसा रख छोड़ी है, तो वह परिग्रह ही है। बाहर से और ऊपर से वस्तु का त्याग कर देने पर भी अगर उसकी लालसा का त्याग नहीं हुआ और आसक्ति मन में रह गई, तो भगवान् महावीर का सन्देश है कि वहाँ पर भी परिग्रह है।

वस्तु त्याग दी है, किन्तु वस्तु के प्रति वासना बनी हुई है; रस नहीं निकला है, तो कुछ नहीं बना है। जब तक रस न निकल जाए, कोई चीज पैदा होने वाली नहीं है।

एक बहुत पुरानी घटना है । किसी राजकुमार ने दीक्षा ले ली और सब कुछ छोड़ दिया । अपने विपुल वैभव को त्यागकर वह साधु बन गया । लोग उसके इस त्याग की प्रशंसा करने लगे । तब राजकुमार ने कहा- भाई, क्या कह रहे हो, मैंने क्या छोड़ा है, कुछ भी तो नहीं छोड़ा ।

लोगों ने कहा- आपने बहुत बड़ा त्याग किया है । इतना महान् त्याग कौन कर सकता है । दुनियाँ तो एक-एक पैसे के लिए मरती है और उसे पाकर छाती से चिपटा लेती है । आपने इतना बड़ा वैभव त्याग दिया है, तथापि कहते हैं कि मैंने त्यागा ही क्या है ? यह तो आपकी और भी महानता है !

तब राजकुमार ने कहा- इसमें मेरी कोई महत्ता नहीं है । किसी के पास जहर की एक छोटी-सी पुड़िया है और दूसरे के पास जहर की बोरी भरी पड़ी है । दोनों को पता नहीं था कि यह जहर है और वे उसे संभाले रखे रहे । जब उन्होंने समझा कि जिसे हम अमृत समझ कर सहेज रहे हैं, वह वास्तव में अमृत नहीं, विष है, तब क्या वे उसे त्याग करने में देर करेंगे ? पुड़िया वाला पुड़िया को फैंक देगा, बोरी वाला बोरी को त्याग देगा । अब लोग कहें कि बोरी वाले ने बड़ा भारी त्याग किया है, तो वह त्याग काहे का ? पुड़िया जहर की थी, तो बोरी भी जहर की ही थी । उसे छोड़ा तो क्या बड़ी चीज छोड़ी ? तो मैंने जो त्यागा है, जहर ही तो त्यागा है और अमर्त्य बनने के लिए त्यागा है । तब मैंने कौन-सा बड़ा त्याग किया ।

हम इस पर विचार करते हैं, तो सच्चाई तैरती हुई मालूम होती है । वह सच्चाई उस जनता के लिए निकल कर आती है, जो कहती है कि अमुक का त्याग महान् है, आर्दश है, अमुक ने हजारों और लाखों का त्याग किया है !

लोग तत्त्व पर विचार नहीं करते और संख्या तथा परिमाण का ही हिसाब लगाया करते हैं । एक आदमी ने दुनियाँ भर की सम्पदा इकट्ठी कर रखी है और उसमें से हजार, दो हजार का दान दे देता है, तो धूम मच जाती है- हलचल पैदा हो जाती है । एक साधारण गरीब आदमी अपनी हैसियत से ज्यादा एक रुपया दान कर देता है, तो उसके लिए कोई आवाज ही नहीं उठती । यह तत्त्व को न समझने का परिणाम है ।

चींटी के रक्त की एक बूँद का जितना महत्व है, हाथी के सेर दो सेर रक्त-दान का उतना महत्त्व नहीं है।

यहाँ विचार करने की आवश्यकता है । एक चींटी ने अपने रक्त की एक बूँद दे दी, तो उसके लिए वही बहुत है । और हाथी सेर दो सेर खून दे दे तो उसका क्या है ? मैं समझता हूँ कि चींटी के रक्त की एक बूँद का जितना महत्व है, हाथी के सेर दो सेर रक्त-दान का उतना महत्त्व नहीं है ।

इसी दृष्टिकोण से/तात्त्विक दृष्टि से हमें विचार करना चाहिए और संख्याओं के फेर में नहीं पड़ना चाहिए । संख्याएँ झूठी है और तत्त्व सत्य है, हमें सत्य को ही अपनाने की आदत डालनी है । बिना तत्त्व को समझे, जीवन का समाधान नहीं ।

एक बार बुद्ध वैशाली में पहुँचे, तो लोग हीरों और मोतियों के बड़े बड़े थाल भर कर भेंट करने के लिए लाए और समझे कि हमने बड़ा भारी त्याग किया है । उस युग की परम्परा थी कि भेंट पर हाथ रख दिया जाता था और उसका मतलब यह होता था कि यह भेंट स्वीकार कर ली गई है ।

बुद्ध के सामने हीरों और मोतियों के रूप में लाखों की सम्पत्ति आई और उन्होंने उस पर अपना हाथ रख दिया। उसके बाद एक बुढ़िया आई, वह मालिन थी। उसके पास मुश्किल से आधा अनार बचा हुआ था। बुढ़िया वही अनार लेकर आई और उसने ज्यों ही वह भेंट के रूप में रखा कि बुद्ध ने उसके ऊपर दोनों हाथ रख दिए।

बड़े-बड़े धनी वहाँ मौजूद थे और वे लाखों के जवाहरात समर्पित कर चुके थे। अपनी भेंट की महत्ता का अनुभव करके वे अकड़े हुए बैठे थे। उन्होंने बुद्ध का यह व्यवहार देखा, तो हैरान और चकित रह गए। उन्होंने कहा- यह क्या हो गया ? हमने इतना बड़ा दान दिया, तो उस पर केवल हाथ रखा और इस बुढ़िया के आधे के आधे अनार के टुकड़े पर दोनों हाथ रख दिए। इसका क्या कारण है। ऐसा क्यों किया ?

बड़े से बड़े दान का मोल हो सकता है, पर सर्वस्व-दान अनमोल है।

आखिर किसी ने पूछ लिया- भदन्त ! इस बुढ़िया के इस तुच्छ दान को इतना महत्त्व क्यों मिला है ?

बुद्ध ने कहा- तुम अभी समझे नहीं। तुम्हारे पास तो इस धन को देने के बाद भी बहुत-सा धन बच गया होगा; परन्तु इस बेचारी के पास क्या बचा है ? इसने तो आधे अनार के रूप में अपना सर्वस्व ही मुझे सौंप दिया है। बड़े से बड़े दान का मोल हो सकता है, पर सर्वस्व-दान अनमोल है। बुढ़िया के इस सर्वस्व-दान की तुलना साम्राज्य-दान से भी नहीं की जा सकती। इसलिए मैंने उस पर दोनों हाथ रखे हैं।

इसलिए मैं कहता हूँ कि वस्तु मुख्य चीज नहीं है, वरन् उसके

पीछे जो तमन्ना है, इच्छा है और भावना है, वही मुख्य है । इस तरह परिग्रह की आधार-शिला इच्छा है, वस्तु का अपने में कोई महत्त्व नहीं ।

यह तो आपको मालूम ही है कि संसार में जितने भी सम्प्रदाय हैं और उनमें दीक्षित होने वाले साधक हैं, सभी कुछ न कुछ उपकरण रखते हैं । सम्भव है, कोई कम रखे और कोई अपेक्षाकृत अधिक । मगर उपकरणों के सर्वथा अभाव में किसी का काम नहीं चल सकता । जब शरीर के साथ उपकरणों की अनिवार्य आवश्यकता है और वे रखे भी गए हैं तो उनके प्रति निर्ममत्व-भाव के अतिरिक्त और क्या सम्भव हो सकता है ? बस, यही ममत्व का अभाव अपरिग्रह है । इसके विरुद्ध अगर हम वस्तु को परिग्रह मानने चलेंगे, तो शिष्य भी परिग्रह हो जाएगा । ऐसी दशा में कोई भी अपरिग्रही मुनि दीक्षा कैसे दे सकता है और शिष्य कैसे बना सकता है ? परन्तु हम देखते हैं कि प्राचीन काल में भी दीक्षाएँ दी जाती थीं और आज भी दीक्षाएँ दी जा रही हैं और इसी रूप से हजारों वर्षों से गुरु-शिष्य की परम्परा जारी है, आगे भी चालू रहेगी ।

हाँ, यह जरूर है कि किसी को अपने शिष्य पर अगर मोह है, तो वह उसके लिए परिग्रह ही है ।

गणधर सुधर्मा स्वामी एक बार कहीं जा रहे थे । रास्ते में उन्हें एक लकड़हारा मिला । उसकी जिन्दगी किनारे पर जा लगी थी । सारे बाल सफेद हो चुके थे । वह सिर पर लकड़ियों का भार लादे, हाँफता-हाँफता जा रहा था । गणधर सुधर्मा स्वामी को बूढ़े की यह दशा देखकर बड़ी दया आई । दया-द्रवित हृदय से उन्होंने उससे पूछा-वृद्ध ! तुम्हारे परिवार में कौन है ?

वृद्ध-मेरे परिवार में मैं ही हूँ, और कोई भी नहीं ।

सुधर्मा स्वामी- क्या रोजगार करते हो ?

वृद्ध- महाराज, मैं लकड़ियाँ काट कर बेचता हूँ ।

सुधर्मा स्वामी- रहने को मकान है ?

वृद्ध- हां, उसे मकान ही कहना चाहिए । टूटा-फूट खंडहर-सा है । उस पर घास-फूस छाकर ठीक कर लेता हूँ । बरसात का मौसम आता है, तो खराब हो जाता है और जब खराब हो जाता है, तो फिर छा लेता हूँ । बस, जिन्दगी में यही काम किया है और यही कर रहा हूँ । जीवन यों ही बीत रहा है ।

सुधर्मा स्वामी- भैया, क्या इसी तरह सारा का सारा जीवन समाप्त कर दोगे ? परलोक के लिए भी कुछ कमाओगे या नहीं ? कुछ सत्कर्म नहीं करोगे, तो परलोक में क्या गति होगी ?

वृद्ध- महाराज, सारा जीवन तो रोटी की समस्या में ही बीता जा रहा है । और फिर कुछ जानता भी नहीं कि परलोक के लिए क्या करूँ । मुझ जैसे गरीब को कौन परलोक के लिए शुभ राह बतलावे । कौन इस जरा-जीर्ण बुड्ढ़े को आश्रय दे ?

बुड्ढ़े की दुर्दशा देखकर उसके आन्तरिक संताप से सुधर्मा स्वामी का नवनीतोपम मृदुल हृदय पिघल गया । उन्होंने करुणा प्रेरित होकर कहा- भद्र, तुम चाहो तो संघ तुम्हें शरण देगा । तुम भिक्षु बनकर परलोक सुधार सकते हो ।

सुधर्मा स्वामी की यह स्वीकृति वृद्ध के लिए दिव्य वरदान थी । वह अत्यन्त प्रसन्न हुआ और स्वामी जी के साथ हो गया । उन्होंने वृद्ध को शिष्य के रूप में स्वीकार कर लिया । क्या सुधर्मा स्वामी का बनाया हुआ वह शिष्य परिग्रह था ?

नहीं, उनकी वृत्ति ऐसी नहीं थी कि यह शिष्य बन जाएगा, तो मेरी सेवा करेगा, पगचंपी करेगा या आहार-पानी लाकर देगा ! उनकी वृत्ति में वृद्ध के प्रति विशुद्ध करुणा का ही भाव था । उसे संघ में स्थान देकर उसके जीवन का कल्याण करना ही उनका मुख्य उद्देश्य था । यह थी, उनकी करुणा वृत्ति ।

भगवान् महावीर से पूछा गया- शिष्य परिग्रह है या नहीं ? भगवान् ने उत्तर दिया- शिष्य परिग्रह है भी और नहीं भी है । अगर कोई गुरु दीक्षा देकर शिष्य से यह आशा करता है या इस आशा से दीक्षा देता है कि यह गोचरी-पानी ला देगा, पैर दबा देगा, सेवा करेगा, तो यह परिग्रह है । यदि यह मनोवृत्ति हो कि यह साधु बनकर अपने जीवन का कल्याण करेगा, समय आने पर मुझे भी धर्म-सहायता देगा और संघ की निष्काम सेवा करेगा, तो वह परिग्रह नहीं है ।

प्रत्येक युग में विविध और परस्पर विरोधी मनोवृत्तियाँ पाई जाती रही हैं। काल तो सब के लिए समान ही है।

प्राचीन काल में भी उपर्युक्त दोनों प्रकार की मनोवृत्तियाँ पायी जाती थीं, फिर चाहे वह सतयुग रहा हो या कलियुग । अच्छी मनोवृत्ति तो संस्कारी आत्मा में मिलती है । युग से उसका कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है । त्रेता युग में राम पैदा हुए थे, तो क्या रावण पैदा नहीं हुआ था ? अगर वह राम का युग था, तो रावण का भी युग था । कृष्ण का युग था तो कंस का भी युग था । धर्मराज का युग था, तो दुर्योधन का भी युग था । प्रत्येक युग में विविध और परस्पर विरोधी मनोवृत्तियाँ पाई जाती रही हैं । काल तो सब के लिए समान ही है ।

जिसे आप सतयुग कहते हैं, उस युग में होने वाले अन्यायों और

अत्याचारों पर जब विचार करते हैं, तब कभी-कभी ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उन अन्यायों की आज, इस कलियुग में पुनरावृत्ति भी नहीं हो सकती। दुर्योधन की राजसभा में, भारत के प्रमुख पुरुषों के समक्ष और धर्मराज के भी समक्ष, द्रौपदी जैसी अत्यन्त प्रतिष्ठित, राज-तनया और राज-पत्नी महिला को नंगी करने की चेष्टा की गई। क्या आज शिष्ट पुरुषों के समाज में ऐसा किया जा सकता है? फिर भी वह द्वापर था और आज घोर कलियुग है। काल नहीं, मनोवृत्ति मुख्य है।

सतयुग और कलियुग मनुष्य द्वारा कल्पित हैं और केवल व्यवहार के लिए गढ़ लिए गए हैं। अगर हमारे जीवन में सच्चाई है, तो आज भी सतयुग है और बुराई है, तो कलियुग है। वास्तव में हमारे जीवन ही सतयुग और कलियुग हैं। यह तो है नहीं कि सतयुग में और चाँद-सूरज हों, कलियुग में और हों। वहीं चाँद-सूरज हैं, वही हवाएँ हैं। प्रकृति के नियम अटल हैं। वही समाज है, वहीं राष्ट्र है।

हमारे जीवन में सच्चाई है, तो आज भी सतयुग है और बुराई है, तो कलियुग है।

बहुधा हम जीवन की अच्छाइयों को प्राप्त करते समय युगों पर अड़ जाते हैं। कहने लगते हैं- कलियुग है भाई, कलियुग है। अरे, यह तो पाँचवा आरा है। इसमें तो कोई विरला ही पाप से बच सकता है। इस प्रकार कहकर हम अपने जीवन की उज्ज्वलताओं के प्रति निराश और हताश हो जाते हैं। अपनी दुर्बलताओं का प्रसार होने देते हैं। बहुत बार अपने दोषों को युग के आवरण में छिपाने का प्रयत्न करते हैं, अपनी मानी हुई अक्षमता के प्रति सहनशील बन जाते हैं।

बहुत बार देखा जाता है कि एक मनुष्य जब किसी बुराई में पड़ा

बुराई तो बुराई है । क्या अपनी और क्या पर की ?

दूसरों की नुक्ताचीनी से हमारा कोई सुधार होने वाला नहीं है।

होता है, तो वह कहने लगता है- अमुक बुराई तो उसमें भी है और इसमें भी है । यह कह कर वह समझता है, हम अपने विषय में सफाई पेश कर रहे हैं । मगर ऐसा कहने से क्या उसकी बुराई, बुराई नहीं रहती ? जो बुराई दूसरों में और अनेकों में हो, वह क्या बुराई नहीं है ?

दूसरों को उसी बुराई का पात्र बतला देने मात्र से आप उस बुराई से बरी नहीं हो सकते । बल्कि ऐसा करके आप अपनी बुराई को बढ़ावा देंगे और उससे छुटकारा नहीं पा सकेगें । बुराई तो बुराई है । क्या अपनी और क्या पर की ?

अभिप्राय यह है कि युग का बहाना करके अथवा दूसरे व्यक्तियों का बहाना करके आप अपनी किसी भी बुराई को प्रोत्साहित न करें । जैसे आप अपने पड़ौसी की बुराई पर अंगुली उठाते हैं, उसी प्रकार अपनी बुराई को भी गौण न करें । आपके जीवन का मोड़ सत्य की ओर होना चाहिए । दूसरों की नुक्ताचीनी से हमारा कोई सुधार होने वाला नहीं है ।

जब आप अपने पड़ौसी को लखपति या करोड़पति के रूप में देखते हैं और दिन-रात तृष्णा-राक्षसी के पंजे में फँसा देखते हैं, तो आप उसका अनुकरण करने लगते हैं । आप अपने हृदय में भी तृष्णा को जगा लेते हैं और सब कुछ भूलकर धनोपार्जन करने में जुट जाते हैं । सोचते हैं- यह इतना धनाढ्य होकर भी जब अपनी इच्छाओं और

लालसाओं को आगे बढ़ने से नहीं रोकता, तो मैं कैसे रोकूँ ? परन्तु जीवन का यह आदर्श नहीं है । आपको तो तात्त्विक दृष्टि से विचार करना चाहिए । तात्त्विक दृष्टि से विचार किये बिना परमार्थ की उपलब्धि नहीं हो सकती । दूसरों का अनुकरण अच्छा नहीं है ।

> *एक तो क्या, अनन्त जीवन धारण करके भी तृष्णा की पूर्ति नहीं हो सकती है।*
>
> *अपना निर्णय अपने विवेक से करो।*

अगर आपने समझ लिया है कि इच्छाओं की कहीं समाप्ति नहीं है, लालसाओं का कहीं अन्त नहीं है, एक तो क्या, अनन्त जीवन धारण करके भी तृष्णा की पूर्ति नहीं हो सकती है और इनके वशीभूत होकर मनुष्य कहीं भी शान्ति नहीं पा सकता है, फिर दूसरों का अनुकरण क्यों करते हो ? दूसरे तृष्णा की ज्वालाओं में पतंगों की तरह कूद रहे हैं, तो तुम क्यों उनके पीछे कूदते हो ?

जब तुम समझते हो कि यह मार्ग हमें अभिष्ट लक्ष्य पर नहीं पहुँचा सकता और लक्ष्य से दूर और दूरतर ही ले जाकर छोड़ देने वाला है, तो क्यों आँख मींच कर दूसरों के पीछे लगते हो ? तुम्हारी तत्त्व दृष्टि ने जो मार्ग तुम्हें दिखाया है, उसी पर चलो । अपना निर्णय अपने विवेक से करो ।

तुम अंधानुकरण न करो, आँख खोलकर सही रास्ते पर चलो । सही रस्ते पे चलोगे, तो तुम्हारा अनुकरण करने वाले भी मिल जाएँगे ।

आज की दुनियाँ में परिग्रह के लिए जो अविश्रान्त दौड़-धूप हो रही है, उसके अन्यान्य कारणों के साथ अनुकरण भी एक मुख्य कारण है । आज धनी बनने की होड लग रही है । प्रत्येक एक-दूसरे से बड़ा

एवं धनी बनने की इच्छा रखता है और इसी चाह ने समग्र विश्व को संघर्षों की क्रीड़ा-स्थली बना रखा है । इस चाह ने जैसे व्यक्तिगत जीवन को अशान्त और असन्तुष्ट बना दिया है, उसी प्रकार राष्ट्रों को भी अशान्त और असंतुष्ट बना रखा है । नतीजा जो है, वह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है । न व्यक्ति सुखी है, न राष्ट्र ही ।

आखिर इस परिस्थिति का अन्त कहाँ है । किसी सीमा पर पहुँच कर व्यक्ति और राष्ट्र अपनी दौड़ समाप्त करेंगे या नहीं ? इस सम्बन्ध में आज के मनुष्य को गंभीर विचार करना चाहिए ।

कई लोग कहते हैं- संतोष तो नपुंसकों का शास्त्र है । संतोष की शिक्षा ने मनुष्य को हतवीर्य, उद्यमहीन और अकर्मण्य बना दिया है । वह जीवन की प्रगति में जबरदस्त बाधक है ।

जहाँ संतोष को कोई स्थान नहीं, वहाँ विराम कहाँ और विश्राम कहाँ ?

मैं कहता हूँ- भौतिकवाद के हिमायती और ऐसा कहने वाले लोग जीवन की कला से अनभिज्ञ है । उन्होंने जीवन के 'शिव' को पहचाना ही नहीं है । वे भौतिक विकास और प्रगति को ही महत्व देते हैं और जीवन की सुख-शांति की उपेक्षा करते हैं । इस दृष्टिकोण का अर्थ होगा- अनन्त-अनन्त काल व्यतीत हो जाने पर भी पारस्परिक संघर्षों का जारी रहना, प्रतिस्पर्धाओं का बढ़ते जाना और दौड़-धूप बनी रहना । जहाँ संतोष को कोई स्थान नहीं, वहाँ विराम कहाँ और विश्राम कहाँ ? वहाँ दौड़ना और दौड़ते रहना ही मनुष्य के भाग्य में लिखा है, तथा उसे इतना भी अवकाश नहीं है कि वह अपनी दौड़ के नतीजे पर घड़ी भर सोच-विचार कर सके ।

संतोष को कायरों का लक्षण समझना, तो और भी बड़ा अज्ञान

है, अपनी लालसाओं पर नियंत्रण स्थापित करना संतोष कहलाता है और लालसाओं पर नियंत्रण करने के लिए अन्तःकरण को जीतना पड़ता है। अन्तःकरण को जीतना कायरों का काम नहीं है। इसके लिए तो बड़ी वीरता चाहिए। उत्तराध्ययन सूत्र में भी कहा है-

जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिणे।
एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ॥

एक मनुष्य विकट संग्राम करके लाखों योद्धाओं पर विजय प्राप्त करता है, तो निस्संदेह वह वीर है; किन्तु जो अपनी अन्तरात्मा को जीतने में सफल हो जाता है, वह उससे भी बड़ा वीर है। अन्तःकरण को जीत लेने वाले की विजय उत्तम और प्रशस्त विजय है। यही सच्ची विजय है।

रावण बड़ा विजेता था। संसार के वीर पुरुष उसकी धाक मानते थे और कहते हैं, अपने समय का वह असाधारण योद्धा था। किन्तु वह भी अपने अन्तःकरण को अपने काबू में न कर सका, अपनी लालसाओं पर नियंत्रण कायम न कर सका। और, उसकी निर्बलता का परिणाम यह हुआ कि उसे इसी चक्र में फँस कर मर जाना पड़ा। उसने अपने परिवार को और साम्राज्य को भी धूल में मिला लिया और इस प्रकार अपने असंतोष के कारण अपना सर्वनाश कर लिया। रावण की कहानी पौराणिक कहानी है और बहुत पुरानी हो चुकी है, उसे जाने दीजिए। आधुनिक युग के एक वीर विजेता हिटलर की जीवनी को ही देखिये। हिटलर को या उसके देश जर्मनी को कोई आवश्यकता नहीं थी, वह समग्र यूरोप पर अपना अधिकार करें, ऐसा किये बिना वह जीवित

अन्तः करण को जीत लेने वाले की विजय उत्तम और प्रशस्त विजय है।

न रह सकता हो, ऐसी भी कोई बात नहीं थी । फिर भी उसने विश्व-विजय के लिए अभियान किया और एक-एक करके अनेक देशों को जीत लिया । मगर 'जहा लाहो तहा लोहो' अर्थात् ज्यों-ज्यों लाभ होता गया, त्यों-त्यों लोभ बढ़ता गया और असंतोष बढ़ता गया, उसकी फौजें भी बढ़ती चली गयी आखिर उसका असंतोष उसे रूस में ले गया और वहीं उसके लोभ ने उसका खात्मा कर दिया ।

यह कहना नितांत भ्रम-पूर्ण है कि संतोष नपुसंकों का शास्त्र है, वस्तुतः संतोष असाधारण वीरता का परिचायक है।

अभिप्राय यह है कि अनेक देशों को जीत लेने पर भी हिटलर अपनी लोभ वृत्ति को नहीं जीत सका था । इसी से अंदाजा लगा लीजिए कि उसे जीतने के लिए कितने बड़े शौर्य की आवश्यकता है ? ऐसी स्थिति में यह कहना नितांत भ्रम-पूर्ण है कि संतोष नपुंसकों का शास्त्र है वस्तुतः संतोष असाधारण वीरता का परिचायक है । और वही समष्टिगत और व्यष्टिगत जीवन को सुखमय बना सकता है ।

इस संतोष का आविर्भाव इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने पर होता है और इच्छाओं पर विजय प्राप्त करने के लिए आवश्यकता है कि उसकी प्रथम मंजिल इच्छा परिमाण पर आप अपना सुदृढ़ कदम रखें । अगर आप अपने जीवन को सुखमय बनाना चाहते हैं, शांति पूर्ण और निराकुल बनाना चाहते हैं, तो आपके लिए एक ही मार्ग है- आप इच्छा परिमाण के पद पर चलें । जो इस पद पर चले हैं, उन्होंने अपना कल्याण किया है और जो चलेंगे, वे भी अपना कल्याण करेंगे और दूसरों का भी । यही वीर प्रभु का पथ है । यही वीतराग मार्ग है । यही तो साधना का पंथ है ।

दिनांक 21.11.1950, ब्यावर-अजमेर

जिस दिन इच्छा पर विजय प्राप्त कर ली जाएगी, उस दिन और ठीक उसी दिन, उसी घड़ी अन्तर जीवन में आनन्द का एक अक्षय स्रोत फूट निकलेगा। जिसके शान्त-निर्मल प्रवाह में आत्मा को वह शान्ति प्राप्त होगी और वह आनन्द प्राप्त होगा, जिसका अन्तिम छोर कभी आएगा ही नहीं। भौतिक सुख के छोर होते हैं, आत्मिक आनन्द का कोई छोर नहीं होता। वह सदा शाश्वत है, अनन्त है।

आनन्द-प्राप्ति का मार्ग

जीवन में सुनते सभी है, किन्तु सुनने-सुनने में बड़ा अन्तर है। कुछ इस कान सुनकर उस कान निकाल लेते हैं। कुछ सुनकर जबान से बातें कर लेते हैं किन्तु सुनकर जीवन में उतारने वाले बहुत ही थोड़े होते हैं। बहुधा देखा जाता है कि धर्म की लम्बी-चौड़ी चर्चाएं होती हैं, कुछ व्यक्ति उसमें रस भी खूब लेते हैं किन्तु आचरण के समय वे उन धर्म चर्चाओं से कोसों दूर होते हैं। सुनने को तो बहुत बार सुना गया है कि यह जीवन एक सुनहरा अवसर है। इस अवसर से यदि कुछ लाभ उठा लिया तो ठीक है, नहीं तो पीछे पछताना पड़ेगा। यह जीवन जिसने हार दिया, उसने बहुत कुछ हार दिया। एक आचार्य ने कहा है-

इतो विनष्टिः, महतो विनष्टिः ।

यहाँ का विनाश, महान् विनाश है। यहाँ जो ठोकर लग गई, तो बस सर्वत्र ठोकरें ही खानी पड़ेगी और इस जीवन में यदि आनन्द और शान्ति का रास्ता मिल गया तो समझो कि अब सदा के लिए कष्टों का किनारा आ गया।

इच्छाओं का प्रवाह :

जब तक मन के खेत से इच्छाओं का टिड्डी दल उड़ कर दूर नहीं हो जाता, तब तक उसमें आनन्द का पौधा नहीं फल सकता। जब

तक जीवन है, सुख-दुख आते ही रहेंगे, तदनुसार इच्छाओं का प्रवाह बहता ही रहेगा। मनुष्य के हृदय सागर में इच्छाओं कि अनेक विध तरंगें उठती हैं, मानव को उनकी पूर्ति के लिए दौड़-धूप भी करनी होती है। किन्तु सवाल यह है कि उन इच्छाओं को तोला जाय कि कौनसी इच्छाएँ पूर्ति करने योग्य हैं और कौनसी निरर्थक हैं, जिन्हें छोड़ देना चाहिए।

> *मन के अन्दर प्रतिदिन असंख्य इच्छाएँ जन्म लेती है और मरकर समाप्त हो जाती है। मन एक प्रकार से मृत इच्छाओं का श्मशान बना रहता है।*

सबसे पहले इस विषय पर चिन्तन-मनन करना चाहिए कि कौन सी इच्छाएँ जीवन यात्रा में आवश्यक है, जिनके बिना जीवन में संतुलन नहीं रह सकता और कौन सी इच्छाएँ अनावश्यक हैं, जिनसे जीवन में एक निरर्थक भार बढ़ता है, व्यर्थ की परेशानी होती है। योग्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए जीवन में कुछ न कुछ संघर्ष करना ही होगा और शेष अनावश्यक इच्छाओं की गन्दगी और भार को हटाकर सफाई करनी होगी। मन के अन्दर प्रतिदिन असंख्य इच्छाएँ जन्म लेती हैं और मर कर समाप्त हो जाती हैं। मन एक प्रकार से मृत इच्छाओं का श्मशान बना रहता है। उनमें अधिकतर इच्छाएँ ऐसी होती है जिनका कोई अर्थ नहीं होता, जीवन में कोई उपयोग नहीं होता, वे सिर्फ राग-द्वेष के चक्र की धुरियाँ मात्र होती है, उनकी गन्दगी भर कर मन को गन्दा नहीं करना है।

मन तो एक खेत के समान है, जहाँ धान के साथ अनेक प्रकार का घास-फूस भी पैदा होता है। किसान जब खेत में बीज डालता है, तो उसकी भावना का वास्तविक केन्द्र तो अनाज रहता है। उसके

साथ-साथ घास-फूस आदि चीजें भी अपने आप पैदा हो जाती हैं । वे खेत के लिए सिर्फ अनावश्यक ही नहीं अपितु हानिकारक भी होती हैं । यदि उन्हें अच्छी तरह साफ नहीं किया जाय तो खेत में उनका एक भीषण जंगल ही खड़ा हो जाएगा और इसका अंतिम परिणाम यह होगा कि जो बीज वास्तव में किसान ने बोए हैं और जिनके उगने पर ही किसान का, समाज और देश का भविष्य निर्भर करता है, उन्हें उचित पोषण ही नहीं मिल सकेगा । खेत की उपजाऊ शक्ति उन बीजों को ही मिलनी चाहिए, उनका ही विकास होना चाहिए, परन्तु खेत में पैदा हुए निरर्थक घास आदि की सफाई न की जाए तो वह घास उन पौधों का शोषण करेगी । अन्न को ठीक मात्रा में पैदा नहीं होने देगी । यही स्थिति मन की खेती की भी है । उसमें भी संकल्पों के बीज डाले जाते हैं, किन्तु मनुष्य की जरा सी असावधानी के कारण गलत इच्छाओं के घासों से मन का खेत भर जाता है । यदि उन्हें ठीक समय पर दूर नहीं किया जा सकता तो वास्तविक इच्छाओं को, चाहे वह आध्यात्मिक हों, पारिवारिक हों, सामाजिक तथा राष्ट्रीय हों, जो भी हों- जैसा उचित पोषण मिलना चाहिए, नहीं मिल पाएगा । पोषक-तत्त्वों को वे निरर्थक इच्छाएँ ही हजम कर जाएँगी । अतः आवश्यकता इस बात की है कि प्रबुद्ध मानव को अपने अन्दर में इच्छा का विश्लेषण करने की शक्ति पैदा करनी चाहिए, उनके सही और गलत रूपों के पहचान का द्रष्टा बनना चाहिए, इसलिए मन के अन्दर झाँकने और अपने आप को परखने की आवश्यकता है ।

दो प्रतिक्रियाएँ :

इच्छाओं के फलस्वरूप मन में जो प्रतिक्रियाएँ होती हैं, वे दो प्रकार की हैं- कुछ लोग तो इच्छाओं की पूर्ति करना चाहते हैं । पूर्ति के द्वारा इच्छाओं को शान्त करके आनन्द पाना, यह एक प्रक्रिया है । इस प्रक्रिया

से मन को तृप्त करने की वृत्ति सर्व साधारण मनुष्य में होती है ।

दूसरी प्रक्रिया यह है कि साधक कहे जाने वाले कुछ लोग इच्छाओं को त्याग, वैराग्य और संतोष के द्वारा पैदा ही नहीं होने देते । यदि कभी पैदा हो भी जाती है तो वहीं उनका दमन कर देते हैं । उनके मन की भूमिका कुछ विशिष्ट प्रकार की होती है । वहाँ इच्छाओं की फसल अनियमित और अवांछित नहीं होती, इसलिए उनको इच्छाओं की पूर्ति में न अहम् का उन्माद होता है और न पूर्ति के अभाव में संताप ही भोगना पड़ता है । पहली भूमिका के लोग इच्छाओं की पूर्ति में आनन्द मानते हैं, तो दूसरी भूमिका के लोग ठीक इसके विपरीत इच्छाओं के निरोध में आनन्द अनुभव करते हैं ।

मन जब तक शांत रहता है, तब तक न तो इच्छाओं की उत्पत्ति होती है और न कोई क्लेश एवं उद्वेग ही होता है । परन्तु जब अशांत मन में उत्पन्न इच्छाओं की पूर्ति के लिए कदम आगे बढ़ते हैं तो रुकावटें, कठिनाईयाँ और बाधाएँ उत्पन्न होती हैं । जीवन में सर्वत्र पक्की सड़कों की तरह व्यवस्थित स्थिति नहीं मिलती है, जिस पर आप अपनी इच्छाओं की मोटर को सुगमता से जहाँ चाहे दौड़ाते चले जाएं । जब कदम-कदम पर बाधाएँ आएंगी, विघ्न उपस्थित होंगे तो आपके मन को चोट पहुँचेगी, काँटें की तरह अन्दर में चुभन होगी और घृणा, द्वेष तथा वैर की अभिवृद्धि होगी । इच्छा उत्पन्न होने के पूर्व की स्थिति शान्तिमय रहती है, परन्तु जब इच्छाओं के मार्ग में रुकावटें आती हैं, तो व्याकुलता होती है, फलस्वरूप क्रोध, अभिमान आदि अनेक विकल्प व्यक्ति को तंग करने

> *मनुष्य की सभी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं होती, यह संसार का अटल नियम है।*

लगते हैं। मनुष्य की सभी इच्छाएँ कभी पूरी नहीं होती, यह संसार का अटल नियम है। जीवन में सदा ही अपूर्व एवं अतृप्त इच्छाओं की संख्या ही अधिक होती है। और वे अपूर्व इच्छाएँ मन को क्लान्त तथा व्याकुल करती रहती हैं। एक ओर उनके पूरी नहीं होने का दुःख, मानव के दिल और दिमाग को कचोटता रहता है, तो दूसरी ओर जिन परिस्थिति और शक्तियों के कारण उन इच्छाओं की पूर्ति में बाधा उपस्थित होती है, उनके प्रति मन में वैर और द्वेष की लपटें प्रज्चलित होने लगती हैं। कभी-कभी तो व्यक्ति को अपने आप से भी घृणा होने लगती है, फलतः ऐसी स्थिति में व्यक्ति स्वयं अपना ही सिर पीटने लगता है, आत्महत्या तक भी कर लेता है।

इस प्रकार इच्छाओं की पूर्ति नहीं होने के कारण मानव का मन सदा अशांत बना रहता है। किसी भी व्यक्ति की समस्त इच्छाएँ न कभी पूरी हुई हैं और न होंगी। यदि कोई पूर्णता का दावा करता है कि मेरी इच्छाएँ पूर्ण हो चुकी हैं, तो वह भ्रम में है, अपने को धोखा दे रहा है, जन-संसार से अपने अहं की प्रवंचना करता है।

वास्तव में सच्चाई तो यह है कि इच्छा की पूर्ति का आनन्द भी इच्छा के अभाव का ही आनन्द है। ऐसी स्थिति में इच्छाओं की पूर्ति के द्वारा आनन्द प्राप्त करना, ऐसी ही बात है, जैसे कोई अपने शरीर में चाकू मारकर पहले तो घाव पैदा करे और फिर मरहम पट्टी करने के बाद घाव के अच्छा होने पर आनन्द मनाए। यह तो निरी मूर्खता का परिचायक है। आखिर आनन्द तो घाव से पूर्व की स्थिति में आने पर ही होता है तो फिर घाव पैदा ही क्यों किया जाय। इसी प्रकार इच्छा की उत्पत्ति के पूर्व की स्थिति शांति और आनन्द की स्थिति है। और इच्छाओं को उत्पन्न करना चाकू मारकर घाव पैदा करने के समान है।

> शरीर का ज़ख्म तो एक-दो महीने में भर भी जाता है, परन्तु इच्छाओं के चाकू का घाव तो जन्म-जन्मान्तर तक नहीं भर पाता।

आज समूचा संसार इसी मूर्खता की धारा में बह रहा है । शरीर का ज़ख्म तो एक-दो महीने में भर भी जाता है, परन्तु इच्छाओं के चाकू का घाव तो जन्म-जन्मान्तर तक नहीं भर पाता और यूं ही ज़ख्मी मन लेकर दौड़ चलती रहती है । दिन-रात मन चिन्ताओं से व्याकुल, संघर्षों से परेशान और हाय-हाय करता रहता है। इतनी चिन्ता और व्याकुलताओं के बाद इच्छाओं की पूर्ति के रूप में यदि घाव कभी भर भी गया, तो क्या लाभ हुआ ? इच्छाओं की उत्पत्ति से पूर्व जो इच्छाओं की अभावात्मक स्थिति थी, उसे अनेक संकटपूर्ण स्थितियों के बाद इच्छाओं की पूर्ति होने पर पुनः प्राप्त करना और इच्छा के पूर्ति-जन्य अभाव में आनन्द मनाना, चाकू मारकर पहले ज़ख्म बनाना है । और पुनः चिकित्साओं के द्वारा उसे अच्छा करके आनन्द मनाना है । यह तो द्रविड़-प्राणायाम करने जैसी ही बात को चरितार्थ करता है । उक्त विवेचन से यही निष्कर्ष निकलता है कि जब इच्छाओं के अभाव में ही आनन्द है तो इच्छाओं को पैदा ही क्यों किया जाय ?

अधूरी इच्छाएँ :

शास्त्रकारों का कहना है कि यदि मन की तरंगों और इच्छाओं का ठीक से विश्लेषण करें, तो यह निष्कर्ष निकलेगा कि लोगों को अनेक निरर्थक और क्षुद्र इच्छाएँ तंग करती रहती हैं । यदि इच्छाओं की शान्ति इच्छाओं की पूर्ति के द्वारा करना चाहें, तो कुछेक इच्छाओं की ही पूर्ति हो सकती है, अधिकांश इच्छाओं की पूर्ति तो कभी हो ही नहीं पाती ।

कई बार तो ऐसा भी होता है कि एक इच्छा की पूर्ति के प्रयत्न में अनेक नई इच्छाएँ और उत्पन्न हो जाती हैं और मन को ज्यादा परेशान करने लग जाती हैं । यह जीवन एक ऐसा महल है, जिसके हजारों दरवाजे हैं और हजारों ही कमरे हैं और वे सब बन्द पड़े हैं । यदि कोई व्यक्ति इस महल में जाने के लिए प्रयत्न करता है और पहला द्वार खोलकर अन्दर जाता है । तो दूसरा द्वार बन्द मिलता है । अथक परिश्रम करने के बाद जब वह दूसरा द्वार खोल पाता है, तथा आगे बढ़ता है, तो तीसरा द्वार बन्द मिलता है । इस प्रकार एक के बाद एक बन्द दरवाजों को खोलने में ही उसके जीवन के पचास-सौ वर्ष बीत जाते हैं । और एक दिन जब मौत सिर पर आकर चक्कर काटती है, तब तक भी द्वार बन्द ही नजर आते हैं । आखिर में महल के दरवाजे पूरे खोल भी नहीं पाता कि इंसान दुनियाँ से कूच कर जाता है ।

रामायण से सम्बन्धित एक लोक कथा है कि जब रावण मृत्यु शय्या पर पड़ा महाप्रयाण करने की तैयारी कर रहा था, उस समय उससे पूछा गया कि उसकी कोई इच्छा रह गई है, तो बताए, उसे पूरा किया जाए । इस पर उसने बताया कि 'मेरे जीवन के कुछ अरमान, कुछ सपने ऐसे अधूरे रह गए हैं, जो पंख-कटे पक्षी की तरह अब उड़ने में असमर्थ हैं । वे सिर्फ अन्दर में तड़पने के लिए हैं । अब वे किसी भी तरह पूरे नहीं हो सकते ।' कहा जाता है, बहुत आग्रह करने पर रावण ने बताया कि-

1. मेरी इच्छा थी कि अग्नि जले, परन्तु उससे कालिख और धुआँ नहीं निकले । उसमें मलीनता नहीं, केवल प्रकाश, उज्ज्वलता हो ।
2. सोना, जो देखने में बहुत सुन्दर लगता है, उसमें सुगन्ध हो ।
3. लंका के चारों ओर जो खारे पानी का समुद्र लहरा रहा है, उसका जल मीठा बनाया जाए, ताकि सबके उपयोग में आ सके ।

इच्छाएँ तो और भी हैं, पर ये तीन खास इच्छाएँ मेरी अधूरी रह गईं। मैंने संसार को इस छोर से उस छोर तक अपनी विजय-दुन्दुभि से मुखरित कर दिया। सोने की लंका बसाई और अनेक अद्‌भुत करिश्मे दिखाये। किन्तु फिर भी मेरी असंख्य इच्छाएँ अधूरी रह गईं। बस, उन्हीं के दुःख और दर्द से मैं छटपटा रहा हूँ। उन्हीं इच्छाओं में से मुख्य ये तीन इच्छाएँ थीं।

जब रावण जैसा वैभव-सम्पन्न और पराक्रमी व्यक्ति भी यह बात कहता है कि मेरी इच्छाएँ अपूर्ण रह गईं, तो दूसरों की तो विसात ही क्या है ? साधारण लोगों ही इच्छाएँ कहाँ तक पूर्ण हो सकती हैं ? अनन्तकाल से स्वर्ग, नरक आदि के चक्कर पर चक्कर लगाते रहे, इच्छाएँ बनती रहीं, मिटती रहीं और फिर दुगुने वेग से उफनती रहीं। स्वर्ग के साम्राज्य का स्वामी बनने पर भी आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हुई। चक्रवर्ती और सम्राट् बनने पर भी आकांक्षाएँ अधूरी ही छोड़कर जाना पड़ा। इच्छाओं का पेट ऐसा है, जो कभी नहीं भर सकता।

स्वर्ग के साम्राज्य का स्वामी बनने पर भी आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं हुई। इच्छाओं का पेट ऐसा है, जो कभी नहीं भर सकता।

मन का पेट :

एक करोड़पति सेठ ने कहा कि मैं धर्माचरण के लिए अच्छा भाव रखता हूँ, सत्संग में जाने का भाव भी काफी है परन्तु पेट के लिए इतनी दौड़-धूप करनी पड़ती है कि अवकाश ही नहीं निकल सकता। तो क्या वास्तव में ही पेट इतना बड़ा है कि करोड़पति हो जाने के बाद भी वह नहीं भरता। बात ऐसी नहीं है। वास्तव में यह चमड़े का पेट तो बहुत

ही छोटा है । आध सेर धान से भी भर सकता है किन्तु मन का पेट इतना विशाल है कि वह कभी भी भर नहीं पाता । मेरु पर्वत जितने बड़े मिष्ठान्न के भण्डार से भी उसकी तृप्ति नहीं हो पाती ।

तन की तृष्णा तनिक है, आध पाव जे सेर ।
मन की तृष्णा अनन्त है, गिरते मेर के मेर ।।

यह मन की भूख ही है, जिसे धरती के हजारों-हजार चक्रवर्ती और स्वर्ग के इन्द्रों के साम्राज्य से भी भरना सम्भव नहीं है । चमड़े के पेट का घेरा इतना क्षुद्र है कि उसके भरने पर आखिर रोक लगानी ही पड़ती है, किन्तु मन का पेट ऐसा है कि उसमें चाहे जितना भरा जाए, वह कभी भी भरता नहीं । जलती अग्नि में कोई यह सोचकर घी डाले कि यह शान्त हो जाएगी, तो यह उल्टी बात होगी । वह तो पहले से भी कई गुना अधिक तेज प्रज्वलित होगी । ठीक इसी प्रकार का विचार इच्छाओं की पूर्ति करके उन्हें शान्त करने का है । मनु-स्मृति में कहा है-

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्ण-वर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ।।

अग्नि जैसे घी से अधिक प्रज्वलित होती है, वैसे ही कामनाओं की अग्नि भी पूर्ति के प्रयत्नों से और भी वेगवती होकर जलती है ।

आनन्द कहाँ है ?

कभी-कभी सोचता हूँ कि आखिर आनन्द कहाँ है, किसमें है ? इच्छाओं की अतृप्ति में भी बैचेनी है, अशान्ति है और उनकी पूर्ति के प्रयत्न में भी कष्ट है । पूर्ण होने के बाद और भी कष्ट होता है- जब एक के बाद दूसरी दस और नई इच्छाएँ पैदा हो जाती हैं । इस प्रकार

जीवन में कभी इच्छाओं की पूर्ण संतुष्टि का समय ही नहीं आता और संतुष्टि न होने पर आनन्द भी नहीं मिल पाता ।

बड़े-बड़े चक्रवर्ती भी अन्त में हाय-हाय करते मर गए । सुभूम चक्रवर्ती, छह खण्डों का सम्राट् ! फिर भी एक अतृप्त इच्छा, दबी हुई कामना उसे सातवां खंड साधने को प्रेरित करने लगी । जिस व्यक्ति को छह खण्ड के विशाल साम्राज्य से भी आनन्द प्राप्त नहीं हो सका, सन्तोष नहीं हो सका, उसे सातवें खण्ड में भी वह कहाँ मिल सकता था ? यदि उसके मन की भूख मिटाने को छह खण्ड का साम्राज्य भी समर्थ नहीं हुआ, तो सातवें खण्ड में ऐसा क्या है, जो उसकी भूख मिटा देगा । वास्तव में आकांक्षाएँ/लालसाएँ मनुष्य को परेशान करती हैं । भगवान् महावीर ने कहा है कि ये आकांक्षाएँ आकाश के समान अनन्त हैं-

इच्छा हु आगास-समा अणन्तिया ।

यह आशा-तृष्णा एक ऐसी नारी है, जिसके अनन्त बच्चे जन्में और खत्म हो गए, परन्तु यह खत्म नहीं हुई । जिस दिन इच्छा पर विजय प्राप्त कर ली जाएगी, उस दिन और ठीक उसी दिन, उसी घड़ी अन्तर जीवन में आनन्द का एक अक्षय स्रोत फूट निकलेगा । जिसके शान्त-निर्मल प्रवाह में आत्मा को वह शान्ति प्राप्त होगी और वह आनन्द प्राप्त होगा, जिसका अन्तिम छोर कभी आएगा ही नहीं । भौतिक सुख के छोर होते हैं, आत्मिक आनन्द का कोई छोर नहीं होता । वह तो सदा शाश्वत है, अनन्त है ।

> *आशा-तृष्णा एक ऐसी नारी है, जिसके अनन्त बच्चे जन्में और खत्म हो गए, परन्तु यह खत्म नहीं हुई ।*

भय से शान्त रहना- फिर चाहे वह गुरु का भय हो, समाज का भय हो, राज का भय हो या डंडे का भय हो- सच्चा वैराग्य नहीं है। भय से तो पशु भी संयत रहकर चल सकता है। आप देखते हैं, पशु जंगल में चरने को जाते हैं, दोनों ओर हरे-भरे खेंतो में धान की बालें लहरा रही हैं, खाने को जी ललचाता है, फिर भी वह इधर-उधर मुँह नहीं मार कर सीधा चला जा रहा है। क्या यह उसका संयम है? यह संयम नहीं है, ग्वाले के डंडे का भय है।

साधक जीवन : समस्याएँ और समाधान

साधना के क्षेत्र का एक प्रश्न हमारे सामने है। वह प्रश्न बहुत पुराना है और बहुत गहरा भी है। उसे सुलझाने के लिए जितने गहरे हम उतरते हैं, प्रश्न उतना ही और गहरा मालूम पड़ता है।

इन्सान जब तक जल की ऊपरी सतह पर तैरता है, तब तक वह तैरता तो है; परन्तु जल की गहराई का पता उसे नहीं चल सकता। कभी-कभी ऐसा होता है कि जब हम समस्या पर विचार करते हैं, तो ऊपर की सतह पर तैरते रहते हैं। हम सोचते हैं कि कुछ चिन्तन-मनन कर रहे हैं, समस्या पर विचार कर रहे हैं, किन्तु वस्तुतः हम समस्या को छूकर छोड़ देते हैं, उसकी गहराई का अनुमान हमें नहीं होता।

हमारे समक्ष साधक के अन्तर्मन की समस्या है। मनुष्य के मन में कुछ वृत्तियाँ होती हैं, कुछ संस्कार होते हैं, कुछ संस्कार जन्म-जन्मान्तर से चले आते हैं, कुछ नई वृत्तियाँ संस्कार का रूप धारण करती जाती हैं। जन्म-जन्मांतर के प्रश्न का उत्तर हम 'अनादि' के सिवाय अन्य किसी शब्द के द्वारा नहीं दे सकते। वृत्तियाँ अनादि नहीं होती, किन्तु उनका प्रवाह अनादि होता है। क्रोध एक वृत्ति है, उसकी आदि है। मान, लोभ आदि वृत्तियों की भी आदि है। किन्तु मन के भीतर इनका जो संस्कार है, वह प्रवाह रूप में अनादि काल से चला आ रहा है। वह प्रवाह कभी किसी रूप में मोड़ लेता है, तो कभी किसी रूप में।

वृत्तियाँ कैसे बदले :

अनादि और जन्म-जन्मांतर की चर्चा नहीं करके हम साधना क्षेत्र के इस ज्वलन्त प्रश्न पर विचार कर रहे हैं कि इस प्रवाह को कैसे रोका जाए ?

मनुष्य जब साधना के क्षेत्र में बढ़ता है, तब अपने मन के भीतर एक युद्ध प्रारम्भ करता है । उसके अन्तर्मन में एक हलचल शुरू होती है, एक स्पन्दन पैदा होता है । और तब साधना के दो रूप हो जाते हैं । कुछ साधक वृत्तियों को दबाते चले जाते हैं और कुछ साधक वृत्तियों को क्रमशः क्षीण कर उन्हें समाप्त कर देते हैं । वृत्तियों को दबाने का जो क्रम है, वह हमारी शास्त्रीय भाषा में 'उपशम' कहलाता है और समाप्त करने का क्रम 'क्षय' ।

हम सोचते हैं, क्रोध करेंगे, तो इसका परिणाम क्या होगा ? समाज व परिवार में लोग बुरा कहेंगे, घर में अशान्ति हो जाएगी, शरीर और बुद्धि पर भी इसका बुरा असर होगा । अधिक क्रोध करने से स्मरण-शक्ति दुर्बल हो जाती है, शरीर कमजोर हो जाता है- इस प्रकार का एक भाव हमारे हृदय में जागृत होता है । मैं मानता हूँ, यह जागृति हमारे अन्तःकरण के विवेक की नहीं है । यह बाहरी दबाव, प्रभाव और मोह से पैदा हुई है । हम क्रोध को दबाना चाहते हैं, छुपाना चाहते हैं कि कोई हमें क्रोधी न कहें, हमारे शरीर पर उसका गलत प्रभाव न पड़े । किन्तु भीतर में क्रोध की उष्णता राख में दबी हुई आग की भांति विद्यमान रहती है ।

राजनीति जीवन का अंग :

आपको याद होगा- मैंने एक प्रवचन में कहा था- यदि व्यक्ति

के असली रूप को देखना हो, तो बाहर में नहीं, घर में देखिए। वह क्या है, कैसा है- इसका परीक्षण और निर्णय घर की परिस्थिति में ही आप कर सकते हैं। बाहर में व्यक्ति पर बहुत से आवरण रहते हैं, सभ्यता और शिष्टता का दबाव रहता है, इज्जत का भय रहता है। अतः व्यक्ति का असली रूप बाहर में नहीं, घर में ही देखा जा सकता है, क्योंकि घर में मनुष्य दबाव से मुक्त होता है, इसलिए वहाँ अन्दर की वृत्तियाँ खुलकर खेलती है। व्यक्ति के जीवन में एक राजनीति चल रही है, वह हर क्षेत्र में विभिन्न रूप, विभिन्न आकृतियों से व्यक्त होती है, अपने असली रूप को प्रकट ही नहीं होने देता। यह विचित्र राजनीति, जो कभी राज्य शासन का अंग थी, आज परिवार और व्यक्तिगत जीवन का अंग बन गई है।

यदि व्यक्ति के असली रूप को देखना हो, तो बाहर में नहीं, घर में देखिए।

राजा का लक्षण बताते हुए महाभारत में व्यास ने राजनीति के सम्बन्ध में एक बात आदिपर्व, 3/123 में कही है-

वाङ् नवनीतं, हृदयं तीक्ष्ण-धारम्।

राजा की वाणी तो मक्खन के समान कोमल होती है, परन्तु हृदय पैनी धार वाले छुरे के समान तीक्ष्ण होता है। अर्थात् अपने अन्तर-भावों को छिपाते रहना, बिल्कुल शान्त रहना, वाणी से मीठी-मीठी बातें करना और भीतर से शत्रु का मूलोच्छेदन कर डालने के लिए षड्यन्त्र के छुरे चलाते रहना- यह राजा का लक्षण है।

हजारों वर्ष बीत जाने के बाद भी, राजनीति की यह वृत्ति आज

भी उसी रूप में चल रही है । मैं मानता हूँ, उस समय यह नीति, राजनीति का अंग थी, पर आज तो वह जीवन का अंग बन गई है । जो बातें कभी दुर्जन के लिए कही जाती थी, वे आज बड़े-बड़े सज्जन अपना रहे है । संस्कृत साहित्य में एक सूक्ति है-

मुखं पद्मदलाकारं, वाणी चन्दन-शीतला ।
हृदयं कर्तरी-तुल्यं, त्रिविधं धूर्त-लक्षणम् ।।

किसी धूर्त का मुँह देखिए, ऐसा मालूम होता है कि मानो खिला हुआ कमल हो । मुख पर बड़ी प्रसन्नता, मुस्कान चमकती मिलेगी । और वाणी सुनिए तो चन्दन जैसी शीतल । बड़ी मीठी । किन्तु हृदय उसका कोई देख सके तो वहाँ छल-कपट की कैची चलती हुई मिलेगी, जो अच्छे से अच्छे मित्र को भी काटती चली जाती है । मन, वचन और कर्म की यह विषमता कभी धूर्त प्रपंची की विशेषता रही है । पर, आज तो सज्जन कहे जाने वाले व्यक्ति भी इन विशेषताओं में सबसे अग्रणी हो गए हैं ।

मैं आपसे कह रहा था कि राजनीतिज्ञ अथवा धूर्त बाहर में अपने रूप का संगोपन कर लेता है, अपने को छुपा लेता है, तो यह वर्तमान में जीवन-व्यवहार का उपशम है, वास्तविक उपशम नहीं है । यह उपशम तो और अधिक पतन का कारण है । साधना का उपशम इससे भिन्न है ।

राजनीतिज्ञ अथवा धूर्त बाहर में अपने रूप का संगोपन कर लेता है।

उपशम क्या है ?

भीतर में राग व द्वेष की आग नष्ट नहीं होती, दबी रहती है किन्तु साधना के द्वारा क्षणिक शीतलता-वीतरागता प्राप्त हो जाती है,

इसमें साधक बाहरी दबाव आदि के कारण छल-कपट, दिखावा तो नहीं करता परन्तु वह इतना दुर्बल होता है कि वृत्तियों को नष्ट नहीं कर पाता, दबा देता है । दबी हुई वृत्तियाँ समय पाकर फिर उभर आती हैं । यह साधना का उपशम भाव है ।

मैं इस सम्बन्ध में एक उदाहरण आपके समक्ष रखना चाहता हूँ । घर में कूड़ा पड़ा है, बहुत दिन से सफाई नहीं हुई है । अचानक आपका कोई बड़ा रिश्तेदार या मेहमान आ गया तो जल्दी में आप उस कूड़े-कचरे को बाहर नहीं फेंक कर उस पर कोई सुन्दर कपड़ा, चादर या आवरण डाल देते हैं कि मेहमान को यह न लगे कि यहाँ सफाई नहीं है । गन्दगी, कूड़ा-कचरा घर से निकालकर फेंका नहीं गया, बल्कि दबा दिया गया है । कुछ ऐसी ही स्थिति वृत्तियों के उपशमन की भी है ।

दूसरा उदाहरण एक और भी है- एक कांच के ग्लास में आपने मटियाला पानी भरा, पानी में मिट्टी है, आपने उसे एक ओर धीरे से रख दिया तो कुछ ही समय में उसकी मिट्टी नीचे बैठ गई ऊपर से पानी अब बिल्कुल साफ एवं स्वच्छ दिखाई दे रहा है । परन्तु यह स्वच्छता कब तक है ? यदि पानी थोड़ा सा हिल गया तो मिट्टी पूरी पानी में घुल जाएगी और पानी फिर से मटमैला हो जाएगा । मन की इस प्रकार की वृत्ति उपशम है ।

उपशम भाव का अर्थ है- क्रोध, मान, लोभ आदि की जो वृत्तियाँ हैं, वे दबी रहती हैं, भीतर ही भीतर निष्क्रिय रूप से छिपी रहती हैं, उनके ऊपर शांति और सरलता का भाव छाया रहता है, जिससे उसकी ऊष्मा शांत रहती है । किन्तु दबाई हुई वृत्तियाँ कभी शांत नहीं रह सकती । यहीं कारण है कि उपशम का कालमान/स्थिति अधिक से

अधिक अन्तर्मुहूर्त का बताया गया है । वृत्तियाँ किसी रूप में एक बार दब सकती है पर जैसे ही समय आया कि वह पुनः उद्दीप्त हो उठती हैं । मन कितना चंचल है, भावना में लहरों की तरह कितनी उथल-पुथल होती रहती है- यह तो हम प्रतिक्षण अनुभव करते ही हैं । मन के इसी उद्दीपक रूप को ध्यान में रखकर उपशम सम्यक्त्व का कालमान भी अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं माना है । इसका अभिप्राय यह है कि दबाई हुई वृत्तियाँ कुछ क्षण बाद उछल कर पुनः उद्दीप्त हो जाती हैं और फिर उसी पहले की औदयिक स्थिति में लौट कर चली जाती हैं ।

आगमों में बताया गया है कि साधक जब उपशम के मार्ग पर चल पड़ता है, तो वह वृत्तियों को दबाने के प्रयोग में लग जाता है । मनोविज्ञान की भाषा में कहें, तो जो वृत्तियाँ जागृत या चेतन मन में उद्‌बुद्ध होती हैं, उन्हें अवचेतन मन में डाल देता है । अवचेतन मन में स्थित वृत्तियाँ संस्कार बन कर छिप जाती हैं, जब कभी उन्हें उद्‌बुद्ध होने का अवसर एवं निमित्त मिलता है, तो वे पुनः भड़क उठती हैं और साधक के मन में विक्षेप, विघ्न उपस्थित कर देती हैं ।

कल्पना कीजिए- घर में चुपके से कोई चोर घुस आया हो, किसी अंधेरे कोने में सांस रोके दुबक कर बैठ गया हो और आपको पता न चले तो वहाँ आपके धन-माल की सुरक्षा कैसे रह सकती है ? आपको थोड़ा-सा असावधान देखा कि वह छुपा हुआ चोर अपना काम कर लेता है । जो घर में छुपा बैठा है और दांव लगाने की ताक में है, उससे कितनी देर सुरक्षित रहा जा सकता है ? उपशम भाव में वृत्तियों के चोर अन्दर में ही निष्क्रिय होकर छिपे रहते हैं, परन्तु कितनी देर तक ? अन्तर्मुहूर्त के बाद वे पुनः सक्रिय हो जाते हैं ।

उपशम बनाम मूर्च्छित साँप :

किसी पहाड़ी प्रदेश में एक गाँव था। वहाँ एक बालक पहाड़ पर घूम रहा था। रात को बर्फ पड़ी थी, एक साँप रेंगता हुआ बर्फ पर आ गया, तो ठंड के कारण मूर्च्छित हो गया तथा वहीं सिकुड़ कर ऐसे पड़ा रहा कि जैसे मरा हुआ हो। वह बालक घूमता हुआ उधर आया और बर्फ पर साँप को पड़ा हुआ देखा तो उसने सोचा- यह अच्छा तमाशा बनेगा, घर पर छोटे भाई-बहनों को डराने का मजा आएगा। उसने साँप को उठाया और जेब में डाल लिया। वह साँप को मरा हुआ समझ रहा था, इसलिए उसे कोई भय नहीं था। जंगल में घूम कर कुछ देर बाद घर पर आया, हाथ पैर ठिठुर रहे थे, इसलिए आग के पास बैठकर तापने लगा। आग की गर्मी जेब तक पहुँची, धीरे-धीरे साँप में- जो ठंड से निश्चेष्ट हो गया था, चेतनता आई। उसने करवट ली और बालक को डस लिया। बालक वहीं समाप्त हो गया। बाहर की ठंड से मूर्च्छित साँप गर्मी पाकर पुनः चैतन्य हो गया और उससे असावधान रहने वाला बालक, जो उससे तमाशा करना चाहता था, बेचारा मर गया।

क्रोध, मान, माया, लोभ आदि की ये वृत्तियाँ भी साँप है, जो साधना की शीतलता एवं शान्ति के कारण कभी-कभी मूर्च्छित-सी हो जाती हैं और हमें लगता है कि वृत्तियाँ मर गयी हैं, क्रोध निर्मूल हो गया है और इसलिए हम उनसे असावधान या बेफिक्र हो जाते हैं। किन्तु वस्तुतः वे वृत्तियाँ मरती नहीं, मूर्च्छित हो जाती है, क्षीण नहीं, उपशान्त हो जाती हैं और कोई भी निमित्त पाकर पुनः जागृत हो जाती हैं, उद्दीप्त हो उठती हैं और साधक के जीवन को समाप्त कर डालती हैं।

वृत्तियाँ : मूर्च्छित या मृत :

पहाड़ी बालक ने एक भूल की थी और बड़ी भयंकर भूल की थी कि मूर्च्छित साँप को उसने मरा हुआ समझ लिया था । अक्सर वैसी ही भूल हमारे साधक भी आज साधना-क्षेत्र में किए जा रहे हैं । और उस भूल का परिणाम यह है कि आज साधकों के लिए ही दम्भ, मायाचार व पाखण्ड जैसे शब्द शिकायत के रूप में जनता की जबान पर आ रहे हैं ।

पिछले दिनों समाचार-पत्रों में पढ़ा था कि बड़े-बड़े अस्पतालों में जीवित व्यक्तियों को भी मुर्दों के साथ डाल दिया जाता है । उन्हें मूर्च्छित या बेहोश देखकर डॉक्टर लोग मरा समझ लेते हैं या लापरवाही कर जाते हैं । और बेचारे जीवित व्यक्तियों को भी मुर्दों के साथ फेंक दिया जाता है । उनमें से कुछ पुनः जागृत हो जाते हैं और फिर यह शोर होता है कि जीवित व्यक्ति मुर्दों के साथ फेंक दिया गया ।

साधक के जीवन में भी यही लापरवाही चल रही है । वह वृत्तियों को मुर्दा समझ कर एक ओर डाल देता है और उदासीन हो जाता है । पर जब वे मुर्दे जाग उठते हैं, तो हम चौंक पड़ते हैं । आवश्यकता इस बात की है कि साधक इन वृत्तियों की शव-परीक्षा करें कि वस्तुतः वे मरी हैं या मूर्च्छित हैं ?

सच्चा वैराग्य क्या है ?

संस्कृत के एक आचार्य ने कहा है-

विकार-हेतौ सति विक्रियन्ते, येषां न चेतांसि त एव धीराः ।

विकार के हेतु जब सामने उपस्थित हों, मोह के जागृत होने के

कारण मौजूद हों, विषयों के चैतन्य होने का वातावरण सामने हो, उन परिस्थितियों में भी यदि मन शांत रहता है, वृत्तियाँ व विषय-भाव जागृत नहीं होते हैं, मन में मोह की, क्रोध व अहंकार की लहर पैदा नहीं होती है, तो समझना चाहिए कि वह शान्त है, विरक्त है और उसका वैराग्य ऊपर से ओढ़ा हुआ नहीं, अन्तर से जगा हुआ है। उसकी विरक्ति, भय तथा प्रलोभन से नहीं जगी है, अपितु विवेक से जगी है।

भय से शान्त रहना- फिर चाहे वह गुरु का भय हो, समाज का भय हो, राज का भय हो या डंडे का भय हो- सच्चा वैराग्य नहीं है। भय से तो पशु भी संयत रहकर चल सकता है। आप देखते हैं, पशु जंगल में चरने को जाते हैं, दोनों ओर हरे-भरे खेंतो में धान की बालें लहरा रही हैं, खाने को जी ललचाता है, मुँह में पानी छूटता है, फिर भी वह इधर-उधर मुँह नहीं मार कर सीधा चला जा रहा है। क्या यह उसका संयम है ? क्या वह रोगी बन गया है ? नहीं, यह संयम नहीं है, भय है। ग्वाले के डंडे का भय है, इस कारण वह शान्त होकर सीधा चल रहा है।

> *भय व दबाव के कारण हमारे भीतर जो शान्ति आती है, वह सच्चा वैराग्य नहीं, नकली वैराग्य है।*

मैं आपसे कह रहा था कि भय व दबाव के कारण हमारे भीतर जो शान्ति आती है, वह सच्चा वैराग्य नहीं है, नकली वैराग्य है और मैं उस नकली वैराग्य को वैराग्य नहीं, दैन्य एवं मजबूरी कहता हूँ।

मूल्य और तर्क बदलने होंगे :

वर्तमान में हमारे साधना-क्षेत्र में जो विचार-पद्धति और दृष्टि

> दृष्टि बदलने से सृष्टि बदल जाती है।

चल रही है, वह एक प्रकार की दब्बू वृत्ति है, भय व लज्जा से जकड़ा हुआ नकली वैराग्य है । इस वृत्ति में आज परिवर्तन लाने की आवश्यकता है और वृत्ति में परिवर्तन लाने के लिए यह आवश्यक है कि दृष्टि में परिवर्तन आए । दृष्टि बदलने से सृष्टि बदल जाती है ।

आपका बच्चा कोई गलत कार्य कर रहा है । कल्पना करो कि बीड़ी पी रहा है, तो आप उसे देखते ही धमकाएँगे और यदि आप कुछ समझदार है तो धीरे से कहेंगे- 'अरे ! ऐसा करता है, लोग क्या कहेंगे ?'

'लोग क्या कहेंगे'- यह जो तर्क है, वह उसकी वृत्ति को बदलता नहीं, बल्कि दबाता है और उसमें भय की वृत्ति पैदा करता है । आपने लोगों का भय उसके मन में पैदा किया, अब वह लोगों से छिपकर वही काम करेगा । बुराई को चोरी-छिपे करेगा । आप अवश्य ही उसे नैतिक बनाना चाहते है, किन्तु आपके तर्क और हेतु उसमें नैतिक आधार तैयार नहीं कर सकते ।

सामाजिक जीवन में ऐसे सैंकड़ों रीति-रिवाज चले आ रहे हैं, जिनमें आपका विश्वास नहीं है, आप उन्हें बुरा समझते हैं, किन्तु फिर भी निभाए जा रहे हैं । किस आधार पर ? यही कि लोग क्या कहेंगे ?

बच्चे को लोक-भय दिखाकर बुराई से बचाना चाहते हैं और आप स्वयं लोक-भय से बुराई को निभाते जा रहे हैं । इस प्रकार दो पाटों के बीच आप पिसते जा रहे हैं ।

मैं कह रहा था कि बुराई को छोड़ने तथा निभाने के जो ये हेतु हैं, वे गलत हैं, इन्हें बदलना होगा। इन पुराने मूल्यों की जगह दृष्टि के नये मूल्य स्थापित करने होंगे।

मैंने एक मुनिजी को देखा - अपने शिष्य को कह रहे थे- 'अरे भाई ! यह क्या कर रहा है। श्रावक क्या कहेंगे।'

मैंने उनसे कहा- 'महाराज ! आपने शिष्य को गलती करने से रोका, यह तो ठीक है, किन्तु रोकने का जो हेतु दिया, वह गलत है। शिष्य को परिबोध देने का यह तरीका ठीक नहीं है। श्रावक क्या कहेंगे- इस बात से आपने उसमें श्रावकों से छुपकर गलती करने की वृत्ति पैदा कर दी। आपको कहना चाहिए था कि अरे भाई ! तेरी आत्मा क्या कहेगी ?' बाहर के दबाव से रोकने का मतलब हुआ- वैराग्य नहीं जगा, आत्म-साक्षी की भावना पैदा नहीं हुई। और जब तक आत्म-साक्षी की भावना नहीं जगेगी, तब तक वह अपनी भूल को, वृत्तियों को निर्मूल करने का, निष्ठा के साथ प्रयत्न नहीं कर पाएगा।

कभी-कभी मैं सोचता हूँ और एक-दो बार कहा भी है कि हम बाहरी आधार पर जो त्याग की बात कहते हैं, वह मौलिक नहीं है। धूम्रपान और मद्यपान का निषेध हम करते हैं, उसका नैतिक आधार तो ठीक है, किन्तु तत्त्वतः हमारा अधिक आधार भौतिक है। हम उसके त्याग में शरीर को हानि पहुँचने का हेतु देते हैं, धन की बर्बादी का तर्क देते है, यह सब भौतिक तर्क है, भौतिक तर्क के आधार पर त्याग का महल खड़ा करना, ठोस काम नहीं है, बहुत से लोग स्वास्थ्य बनाये रखने के लिए भी धूम्रपान करते हैं, मद्य पीते हैं। इसलिए मैं सोचता हूँ, इन वृत्तियों को बदलने के लिए आत्मदृष्टि जगनी चाहिए। हमारा मूल्यांकन आत्मा के आधार पर होना चाहिए।

वैराग्य या नाटक :

बाहरी दबाव से जो त्याग और वैराग्य का आचरण होता है, वह कभी-कभी बड़ा नाटकीय बन जाता है, उसमें लोगों को प्रभावित करने की आकांक्षा पैदा हो जाती है और उसके लिए नाटक रचना पड़ता है, दिखावा करना पड़ता है ।

एक बार हम कुछ साधु पालनपुर (गुजरात) से लौटते हुए राजस्थान के सांचौर गाँव में गए, पुराना क्षेत्र था । किसी दूसरी संप्रदाय से प्रभावित था । एक बड़े मुनि अपने शिष्य से बोले- आज गोचरी में ध्यान रखना, छाप डाल के आना, लोग याद रखें कि कोई आत्मार्थी एवं उत्कृष्ट संत आये थे । शिष्य भी बड़ा होशियार था गोचरी को निकला तो बड़ी मीन-मेख लगाने लगा- यह असूझता है, यह यों है, वह यों है । लोग देखकर दंग रह गये कि महाराज ! बस, ऐसे आत्मार्थी साधु तो देखे ही नहीं, कितनी ऊँची क्रिया है ! शिष्य ने आकर गुरुजी से बताया कि महाराज ! आपकी ऐसी छाप डाल दी है कि लोग पिछले सब आत्मार्थियों को भूल गये हैं ।

मुझे यह देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ और हंसी भी आई मैंने कहा- 'यह क्या बात है ? रोज जैसा करते हो, वैसा आज क्यों नहीं किया ? या आज जैसा किया है, वैसा रोज क्यों नहीं करते ?'

इस पर वे बोले- 'हमें रोज-रोज इस गाँव में थोड़ा ही रहना है । आज आये हैं, कल चले जाएंगे । पर लोग याद तो करेंगे कि कोई आत्मार्थी उग्र क्रिया-कांडी साधु आये थे ?'

बात यह है कि यह छाप डालने का रोग सिर्फ आपको ही नहीं, हम साधुओं को भी लग गया है । और इसी कारण आज जीवन में

बहुरूपियापन आ गया है। बाहर-भीतर में अंतर आ गया है। वैराग्य, वैराग्य नहीं रहकर नाटक बन गया है।

जीवन की एकरूपता कब :

भगवान् महावीर के समय में भी साधना के क्षेत्र में यह द्वैध चल रहा था। इस द्वैध को समाप्त करने के लिए ही उन्होंने आत्म दृष्टि दी। उन्होंने कहा- जब साधक कोई भी तप, क्रिया एवं साधना अपनी आत्मा के लिए करेगा तथा उसमें आत्म दृष्टि रहेगी, तो वह जीवन में कभी पाखंड नहीं कर सकेगा। जो रूप उसका नगर के चौराहे पर देखने को मिलेगा, वही रूप एकांत कुटी में भी मिलेगा- **'सुत्ते वा जागरमाणे वा, एगओ वा परिसागओ वा'**

जब साधक का वैराग्य अन्तः स्फुरित होगा, भीतर से ज्योति जलेगी, और वही ज्योति वस्तुतः उसके समस्त जीवन को आलोकित करती रहेगी।

सोते और जगते में, अकेले और जन परिषद में, उसके जीवन में कोई अंतर नहीं दिखाई देगा, कोई बहुरूपियापन नहीं मिलेगा। चूंकि वह जो कुछ करेगा, वह अपने लिए करेगा। अपनी आत्मा के लिए करेगा न कि छाप डालने के लिए, उसका रूप जैसा भीतर होगा, वैसा ही बाहर होगा और जैसा बाहर होगा, वैसा ही भीतर में होगा। **जहा अंतो तहा बाहिं, जहा बाहिं तहा अंतो।** यही उसका आदर्श होगा। वह जैसा बोलेगा वैसा ही करेगा- **जहावादी तहाकारी।**

मैं समझता हूँ साधक जीवन का यह सर्वोत्तम रूप है, सच्चा चित्र है। किन्तु यह स्थिति तब ही आ सकती है, जब साधक का वैराग्य

अन्तःस्फुरित होगा, भीतर से ज्योति जलेगी और वही ज्योति वस्तुतः उसके समस्त जीवन को आलोकित करती रहेगी ।

तभी निर्वाण होगा :

आप पूछेंगे यह ज्योति कब जलेगी और यह वैराग्य का सच्चा रूप जीवन में कब निखरेगा ? मैं आपसे कह देना चाहता हूँ कि जब आप और हम अपनी वृत्तियों को दबाने का नहीं, अपितु निर्मूल करने का प्रयत्न करेंगे । बाहरी दबाव से नहीं, बल्कि अंतःकरण की पवित्र प्रेरणा से प्रेरित होंगे । जब वृत्तियाँ बुझ जाएँगी तो निर्वाण अपने आप प्राप्त हो जाएगा ।

जब वृत्तियाँ बुझ जाएँगी तो निर्वाण अपने आप प्राप्त हो जाएगा ।

निर्वाण शब्द हम बोलते हैं और उसका मोक्ष के अर्थ में प्रयोग करते हैं । वैदिक परम्परा में इस शब्द का कोई खास प्रयोग नहीं हुआ है, किन्तु जैन और बौद्ध वाङ्मय में स्थान-स्थान पर यह शब्द मिलता है ।

'निर्वाण' का सीधा अर्थ 'मोक्ष' नहीं है । वह तो भावार्थ या फलितार्थ है । निर्वाण का शब्दार्थ है- बुझ जाना ! जलते दीपक का गुल हो जाना अतएव संस्कृत साहित्य के एक आचार्य ने कहा है- **'निर्वाण-दीपे किमु तैलदानम् ?'**

बौद्ध दर्शन के उद्भट्ट विद्वान् आचार्य अश्वघोष ने निर्वाण का इसी अर्थ में प्रयोग किया है-

दीपो यथा निर्वृत्तिमभ्युपेतो, नैवावह्निं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचिद् विदिशं न कांचिद्, स्नेह-क्षयात् केवलमेति शांतिम् ।।

दीपक जलता-जलता बुझ गया, लौ शांत हो गई, तो वह लौ कहाँ गई ? क्या नीचे चली गई या ऊपर अंतरिक्ष में विलीन हो गई ? या किसी पूर्वादिक दिशा में चली गई ? या किसी विदिशा में विलीन हो गई ? कहीं भी नहीं गई । तेल समाप्त हो गया और बस वहीं बुझ गई । निर्वाण को प्राप्त हो गई ।

बौद्ध दर्शन आत्मा के सम्बन्ध में भी इसी दृष्टि को लेकर कहता है कि राग-द्वेष की स्निग्धता के कारण अनादिकाल से यह हमारी आत्मा का दीपक जलता आ रहा है, जलते-जलते राग-द्वेष एवं क्लेश का तेल समाप्त हो गया, तो वह आत्मा (चेतना) की लौ बुझ गई, लौ बुझते ही ज्ञानी (आत्मा) कहीं भी इधर-उधर नहीं गया, वहीं निर्वाण को प्राप्त हो गया । निर्वाण शब्द का जैन परम्परा में अर्थ होता है- निष्कषाय भाव ।

जैन दर्शन बौद्ध दशर्न की भाँति आत्मा का विलय होना नहीं मानता । निर्वाण के सम्बन्ध में उसका बहुत स्पष्ट और स्वतंत्र चिंतन है । यहाँ पर मैं अभी आपको इतना ही बताना चाहता हूँ कि जैन दर्शन ने भी निर्वाण का एक मुख्य अर्थ बुझ जाना माना है । जब तक राग-द्वेष की लौ बुझ नहीं जाती, कषायों की अग्नि जल रही है; वह बिल्कुल शांत नहीं हो जाती, तब तक निर्वाण नहीं हो सकता । राग-द्वेष की लौ बुझ गई तो आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में आ जाती है, अपने मूल रूप की प्राप्ति कर लेती है और यही निर्वाण है, यही मोक्ष है । निर्वाण आत्मा का बुझ जाना नहीं, बल्कि राग-द्वेष का बुझ जाना निर्वाण है ।

मैं आपसे कह रहा था कि हमें निर्वाण की ओर बढ़ना है, मोक्ष प्राप्त करना है, तो राग-द्वेष की इन वृत्तियों को दबाने की नहीं, बुझाने की आवश्यकता है । आन्तरिक स्फुरणा और अन्तर्जागरण के आधार पर

साधना की ज्योति प्रदीप्त एवं सशक्त होनी चाहिए, निर्बल एवं क्षीण नहीं।

कषायों की आग को सदा के लिए शांत करने की जरूरत है । क्रोध आदि की वृत्तियों को उपशमन तक ही नहीं रखना है, उन्हें क्षय करना है । मूल से उखाड़ कर बाहर फेंकना है । साधना की ज्योति प्रदीप्त एवं सशक्त होनी चाहिए, निर्बल एवं क्षीण नहीं ।

एक बात और है, जिस पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है । वह यह है कि आजकल हमारी साधना पर बाह्य स्थितियों का, बाह्य वातावरण का जो प्रभाव, दबाब व संकोच छाया हुआ है, साधना में जो बाह्य-दृष्टि आ गई है, उसे समाप्त करना होगा । त्याग, वैराग्य और साधना के तर्क एवं मूल्य जो बाह्य केन्द्र पर टिके है, उन्हें अंतःचेतना के केन्द्र पर स्थापित करना होगा, तभी आज की साधना से सम्बन्धित समस्याएँ, शिकायतें और उलझनें समाप्त हो सकेंगी ।

सुख और आनन्द का मार्ग यही है कि जो तुम्हें प्राप्त है, अपने प्रारब्ध एवं पुरुषार्थ से जीवन में जो कुछ पा सके हो, उसी में आनन्द की अनुभूति करो । इच्छाओं को वहीं पर केन्द्रित करो । जो असंभव है, अशक्य है, जिसे प्राप्त नहीं कर सकते और जिसे प्राप्त करके जीवन का कुछ लाभ नहीं होने वाला है, उसकी चिन्ता छोड़ दो ।

इच्छाओं के द्वन्द्व का समाधान

इच्छाओं को असंयमित रख कर उन्मुक्त स्वच्छन्द विहार करना ही सारे अनर्थों का मूल है । इच्छाएँ परिग्रह-वृत्ति को जन्म देती हैं, परिग्रह नाना प्रकार के कर्म-कषायों के जाल में उलझा कर विवश कर देता है । जीवन की नई नीति को विलुप्त कर देता है । अतः उन पर संयम करके विजय प्राप्त करना साधक का प्रथम कर्तव्य है और इसके लिए मार्ग है- इच्छा परिमाण व्रत ।

मनीषियों ने मन को समुद्र कहा है । जिस प्रकार समुद्र में हजारों, लाखों ही नहीं, असंख्य लहरें उठती हैं और गिरती हैं, दिन-रात लहरों के गर्जन-तर्जन एवं उत्थान-पतन का क्रम अविरल चालू रहता है, यही स्थिति मन की है ।

मन के समुद्र में भी क्षण-क्षण में विचार तरंगें उठती रहती हैं, प्रतिपल मन का समुद्र विचार लहरों से लहराता रहता है और एक क्षण के लिए भी वह स्थिर तथा शांत नहीं रह सकता । संकल्प-विकल्पों का ज्वार उसमें आता-जाता रहता है, आशा-निराशा का चक्राकार भँवर घूमता रहता है । सागर जिस प्रकार अथाह है, अपार है, मन भी उसी प्रकार अथाह एवं अपार है । उसके विचार तरंगों की कोई थाह नहीं, उसकी कामना और इच्छाओं का कोई पार नहीं, इसीलिए आचार्यों ने इसे महासागर कहा है- **मनो वै सरस्वान् ।**

मन कहाँ है :

जब मन को सागर के समान बताया, तब एक प्रश्न और पैदा हो गया कि सागर को हम जब चाहे देख सकते हैं। उसके वक्षस्थल पर होने वाला लहरों का विचित्र उत्थान-पतन भी हम देख सकते हैं तो क्या मन का दर्शन भी कर सकते हैं। उसमें चलने वाली लहरों का नाटक भी हम देख सकते हैं। वह मन कहाँ है ? उसका स्वरूप क्या है ? यह सब प्रश्न हमारे सामने यक्ष प्रश्न बनकर उपस्थित हो जाते हैं। मन को समझा जा सकता है, उसकी वृत्तियों द्वारा।

> *मन अत्यंत सूक्ष्म है। वह शरीर के किसी एक भाग में नहीं, अपितु सर्वत्र व्याप्त है।*

मन के सम्बन्ध में योग मार्ग की मान्यता है कि हृदय में एक अष्टदल कमल है, उसी में मन रहता है। लेकिन आज के शरीर विज्ञान ने अष्टदल कमल का अस्तित्व ही स्वीकार करने से इन्कार कर दिया है। कुछ आचार्यों ने मन को परमाणु स्वरूप माना है और शरीर के हृदय देश में उसका स्थान बताया है। जैन दर्शन के आचार्यों ने कहा है कि मन अत्यंत सूक्ष्म है। वह शरीर के किसी एक भाग में नहीं, अपितु सर्वत्र व्याप्त है। जिस प्रकार मक्खन दूध के कण-कण में समाया रहता है, सुगंध फूल की हर पंखुड़ी में महकती रहती है, उसी प्रकार मन सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। कंटकाकीर्ण-पथ पर नंगे पैरों चलते समय जब पैर में कांटा चुभता है तो हम तत्क्षण पीड़ा से कराह उठते हैं। मुँह से आह की आवाज निकलने लगती है, आँखों में पानी भर आता है और मस्तिष्क में झनझनाहट छा जाती है। यदि मन शरीर में कहीं एक जगह केन्द्रित होता, तो वह पाव में काँटें की चुभन से इतना जल्दी, एक ही

क्षण में तरंगित नहीं होता । शरीर के किसी भी अंग को जब कोई सुख-दुःख की अनुभूति होती है, कोई ठंडा या गर्म स्पर्श होता है, तो तुरन्त पूरे शरीर में बिजली की तरह स्पंदन-कंपन हो उठता है । अनुभूति की यह शक्ति संपूर्ण शरीर में प्राप्त है, इसीलिए मानना चाहिए कि मन भी हमारे संपूर्ण शरीर में परिव्याप्त है । **यत्र पवनस्तत्र मनः ।** शरीर में जहाँ वायु है, वहाँ मन है ।

इस विचार-चिन्तन से यह स्पष्ट हो जाता है कि मन समूचे शरीर में है । पर प्रश्न यहीं खत्म नहीं होता कि मन का रूप क्या है ? क्या वह कोई जड़ पुद्गल-पिंड है या चेतना पिंड है ? जैन दर्शन में मन का अत्यन्त सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है । मन को जड़ पुद्गल रूप भी माना गया है और चेतन रूप भी । द्रव्य मन और भाव मन के रूप में मन के दो प्रकार है, जैन दर्शन में ।

अनुभव करने की जो क्षमता है, संवेदन शक्ति है, वह भाव मन है, वह चैतन्य रूप है । भाव मन के बिना द्रव्य मन का कोई उपयोग नहीं होता, जितनी भी अनुभूतियाँ हैं, विचार लहरें हैं, इच्छाएँ और लालसाएँ हैं, संकल्प-विकल्प हैं, वे सब भाव मन की भूमि पर ही अंकुरित होते हैं, पुष्पित और पल्लवित होते हैं । इसीलिए मन का स्वरूप बताते हुए कहा गया है- **संकल्प-विकल्पात्मकं मनः ।**

मन में प्रतिक्षण संकल्प-विकल्प उठते रहते हैं, इच्छाएँ जागती रहती है । ऐसा नहीं कि पदार्थ को देखने पर ही मन की इच्छाएँ जागती है । मन का बाहरी संसार रंग-बिरंगा, संकल्पों और लालसाओं के फूलों तथा कांटों से भरा हुआ है । मन चुपचाप तथा शांत कभी रहता ही नहीं । इच्छाएँ जागती हैं और शांत हो जाती हैं, वासनाएँ उठती हैं, और मिट जाती हैं । फिर कोई न कोई नयी इच्छा और नयी वासना नया रूप

लेकर अवतरित होती है । इस प्रकार आशाओं और इच्छाओं के झूले पर मन सदा से झूलता रहा है । संकल्प-विकल्पों के चक्र में घूमता रहा है । यही मन का स्वरूप है ।

इच्छा परिमाण :

प्रश्न होता है कि मन में जो संकल्पों और इच्छाओं का चक्र अनादिकाल से चलता आया है । क्या वह अनन्तकाल तक ऐसा ही चलता रहेगा ? विकल्पों की धारा को निर्विकल्पता की चट्टान से क्या रोका नहीं जा सकता ? क्या लहर की तरह चंचल और विचित्र इन इच्छाओं का निरोध नहीं हो सकता ? मन में कोई संकल्प उठे ही नहीं, इच्छा जागृत ही नहीं हो, ऐसी स्थिति आ सकती है या नहीं ? शास्त्र में पूर्ण इच्छा निरोध की एक भूमिका बतलाई गई है । निर्विकल्प स्थिति की भी एक दशा है, पर वह इतनी ऊँची है कि एकदम उस भूमिका पर पहुँच पाना बहुत कठिन है । मन का निग्रह करना सहज नहीं है । गीता में कहा है-

चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद्दृढम् ।
तस्याह निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।

मन को रोकना, वायु को रोकने जैसा दुष्कर कार्य है । हिमालय की चढ़ाई है । हिमालय की चढ़ाई प्रारंभ करने से पहले छोटी-छोटी पहाड़ियों पर चढ़ने का अभ्यास करना जैसे जरुरी होता है, उसी प्रकार निर्विकल्प अवस्था में जाने के लिए पहले विकल्पों के पृथक्करण एवं विश्लेषण की भूमिका पर खड़ा होना पड़ेगा । इच्छाओं का संपूर्ण निरोध करने से पूर्व, इच्छाओं का परिमाण करना होगा, फिर धीरे-धीरे हम उस भूमिका की ओर बढ़ सकेंगे ।

इच्छा परिमाण का तात्पर्य है- हमारी इच्छाओं का पृथक्करण और उचित सीमा-निर्धारण । मन में जो इच्छाएँ उभरती हैं, उनमें आवश्यक कितनी है और अनावश्यक कितनी है; साधक के लिए यह जानना बहुत जरूरी है । कितनी ही आशाएँ ऐसी होती है, जो दुराशा मात्र होती हैं, जीवन से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता, जीवन में उनकी कोई उपयोगिता और सार्थकता नहीं होती । वे आशाएँ रामायण के स्वर्ण-मृग की तरह बहुत लुभावनी होती हैं, जो मनुष्य के मन को अपने मायावी मोहक रूप में उलझाकर भटकाती हैं, किन्तु कभी उसके हाथ नहीं लगतीं । इसलिए हमें पहले अपनी इच्छाओं का विश्लेषण करना होगा । आवश्यक क्या है और अनावश्यक क्या है ? इस पृथक्करण के बाद अनावश्यक का त्याग ही जैन परिभाषा में- 'इच्छा-परिमाण' व्रत है । इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मानव-मन में जो असीम इच्छाएँ हैं, उनको सीमित करना, इच्छाओं पर नियन्त्रण करना । इच्छाएँ बेलगाम घोड़े की तरह दौड़ती रहती हैं, बिना अंकुश के हाथी की तरह टकराती रहती हैं । उन पर जब आवश्यक लगाम लग गई, अंकुश लग गया, तो वे सीमित हो गयीं, चूंकि इच्छा ही परिग्रह को जन्म देती है इस प्रकार से तो इच्छा स्वयं ही परिग्रह है, इच्छा के सीमित होने से परिग्रह स्वयं ही सीमित हो जाता है । इसी को इच्छा परिमाण कहा गया है । इच्छाओं का सर्वथा निरोध तो गृहस्थ जीवन में संभव ही नहीं है ।

आशाएँ रामायण के स्वर्ण-मृग की तरह बहुत लुभावनी होती हैं, जो मनुष्य के मन को अपने मायावी मोहक रूप में उलझाकर भटकाती हैं, किन्तु कभी उसके हाथ नहीं लगतीं।

परिग्रह क्या है ?

एक बात यहाँ समझने की है कि जैन दर्शन में परिग्रह किसको माना है ? जैन दर्शन ने किसी वस्तु या पदार्थ को परिग्रह नहीं माना है । वह तो एक बाहर की चीज है । वह क्या परिग्रह और क्या अपरिग्रह ? वास्तविक परिग्रह है- इच्छा । भगवान् महावीर ने 'मुच्छा परिग्गहो' कहा है । इसी भाव को आचार्य उमास्वाति ने संस्कृत के एक सूत्र में 'मूर्च्छा परिग्रहः' कहा है, मूर्च्छा यानी इच्छा, ममता तथा मेरापन जो है, वही परिग्रह है । वस्तु को मन के साथ जोड़ने की जो वृत्ति है और उसमें अपनापन देखने की जो दृष्टि है, वही परिग्रह है । मतलब यह हुआ कि वस्तु परिग्रह नहीं, इच्छा परिग्रह है । इच्छा को ही जैन दर्शन ने अविरति कहा है । विरति का अर्थ है विरक्ति, उदासीनता, इच्छा का संयम । और जहाँ इच्छा का संयम नहीं है, वहाँ विरक्ति नहीं है । अविरति का सूक्ष्म स्वरूप समझाते हुए आचार्यों ने कहा है- एक ओर गन्दगी का कीड़ा है, जो इधर-उधर गन्दी नाली में कुलबुलाता हुआ अपना जीवन गुजारता है और दूसरी ओर एक चक्रवर्ती है, जो छह खंड के साम्राज्य का स्वामी है । इन दोनों में परिग्रह किसका ज्यादा है और किसका कम है ? आप कहेंगे, कीड़े के पास है ही क्या ? कुछ ही क्षणों का जीवन है, उसमें भी नन्हा सा क्षीण शरीर । आगे-पीछे उसके पास संपत्ति के नाम पर है ही क्या ? और चक्रवर्ती का विशाल वैभव साम्राज्य, ऐश्वर्य । इन दोनों की तुलना कैसी ? यही तो जैन दर्शन का समतावाद है कि दोनों को एक ही भूमिका पर खड़ा करके देखा गया है । अविरति दोनों में बराबर है । कीड़े में भी और चक्रवर्ती में भी । क्योंकि इच्छाओं का नियंत्रण करने की कला न चक्रवर्ती के पास है और न ही कीड़े के पास । अतः वस्तु नहीं, वस्तु की मूर्च्छा को ही आचार्य ने परिग्रह कहा है ।

त्याग का मार्ग :

कीड़ा इसलिए इच्छा नहीं कर पाता है कि उसमें चिंतन शक्ति की कमी है। कल्पना करो, कीड़े को यदि संकल्प शक्ति मिली होती, वह आदमी की तरह सोच सकता, विचार कर सकता, तब उसकी आत्मा से पूछते कि सोचो और विचार करो तुम्हें क्या चाहिए ? जो चाहिए वह तुम्हें मिलेगा, तो उस समय उसकी इच्छाएँ एक चक्रवर्ती की इच्छाओं से कम नहीं होतीं। वर्तमान में उसके पास विचार करने की शक्ति कम है, अतः अनर्गल इच्छाएँ अंदर में सोई पड़ी हैं, शक्ति के अभाव में कोई किसी वस्तु को प्राप्त नहीं कर सकता या उसका उपयोग नहीं कर सकता तो यह उसका त्याग नहीं कहला सकता, विरति नहीं हो सकती। पराधीनता और विवशता की स्थिति के कारण वस्तु का असेवन त्याग कैसे हो सकता है ?

कल्पना करो एक आदमी बीमार है, पेट में अलसर है, संग्रहणी है या और कुछ भी है, वह मिष्टान्न भोजन नहीं पचा सकता, दूध भी हजम नहीं कर सकता और मेवा आदि भी नहीं खा सकता। डॉक्टर ने चेतावनी दे दी है कि यदि ये सब चीजें खाओगे, तो अधिक बीमार हो जाओगे फिर तबीयत को संभालना कठिन हो जाएगा, इसलिए वह सादा और हल्का भोजन करता है। क्या आप उसे त्यागी कहेंगे ? आप कहेंगे नहीं, यह भी कोई त्याग है। उसने जो छोड़ रखा है, वह पाचन-शक्ति के अभाव में छोड़ा है। पचता नहीं, हजम नहीं होता, इसलिए नहीं खाता। इसका यह अर्थ हुआ कि यह भोग के लिए भोग का त्याग है, त्याग के लिए नहीं। वह स्वस्थ होकर अधिक भोग करना चाहता है। परिस्थिति ने उसे विवश कर दिया है, इसलिए छोड़ना पड़ा है। खाने की इच्छा नहीं मरी है, वह तो अब भी बहुत कुछ खाना चाहता है। पर

स्वास्थ्य का मोह खाने नहीं देता। खाना छोड़ने से उसके मन में प्रसन्नता नहीं, एक प्रकार की दीनता है कि हाय मैं खा नहीं सकता। इसी का नाम विवशता एवं लाचारी है, वह त्याग नहीं है।

मेरे कहने का आशय यह है कि यह जो त्याग है, वह भोग के लिए भोग का त्याग है। एक दूसरा उदाहरण लीजिए- एक व्यापारी विदेश में चला जाता है, धन कमाने के लिए। वह परिवार का आनन्द छोड़कर जा रहा है। पत्नी, बाल-बच्चे, सगे-स्नेही, माँ-बाप सब का स्नेह और प्यार छोड़कर जाता है और वहाँ वह अनेकों प्रकार की तकलीफें उठाता है। न खाने की सुविधा है और न पीने की। रहने की भी बड़ी दिक्कत है। इस प्रकार बहुत कष्ट सहना पड़ रहा है। तकलीफें सहनी पड़ रही है। एक साधु की तरह ही, अपितु उससे भी ज्यादा दिक्कतें, कष्ट वह झेल रहा है। यह क्या है ? क्या यह तपश्चर्या है, साधना है ? यह सब कुछ नहीं, एक मात्र भोगाभिलाषा है। बाध्यता को त्याग नहीं कहा जाता है।

हम कलकत्ता वर्षावास के बाद उड़ीसा गये थे। एक विशाल पहाड़ी दर्रे को लांघकर बहुत घने जंगल में गुजरकर पहाड़ की तलहटी में एक छोटे से गाँव में पहुँचे। बियावान जंगल। आसपास आदिवासियों की झोंपड़ियां। अधनंगे और अधभूखे लोग। हाथ में तीर साधे, शिकार की खोज में घूमते जंगली आदिवासी। एक मारवाड़ी भाई का पता मालूम हुआ तो हम लोग वहीं चले गये। देखते ही प्रसन्न होकर कहा- महाराज ! पधारिए। बड़े भाग्य से दर्शन मिले। ठहरने को जगह दी, उसने बड़ी श्रद्धा दिखाई। बातचीत चल पड़ी तो हमने कहा- तुमने यहाँ कहाँ आसन जमाया है- पहाड़ों और जंगलों के बीच में, बड़ा विचित्र स्थान है यह तो। वह अलवर (राजस्थान) की तरफ का था, बोला-

महाराज ! स्थान की क्या बात कहते हैं । हमें तो पैसा चाहिए । पैसा यदि दोज़ख में भी मिलता है तो हम वहाँ भी दुकान खोल लेंगे । हँस पड़े, हम सब उसकी बात सुनकर । बात भी खूब गजब की कही उसने, बोला- "महाराज, यहाँ बुरा हाल है हमारा, लेकिन पेट है न, उसे तो पालना ही है । उसे पालने के लिए पैसा चाहिए, इसलिए यहाँ घर से इतनी दूर पड़े है । यहाँ आवागमन का भी कोई अच्छा साधन नहीं, आसपास आदिवासियों की बस्ती है । न जाने किस समय क्या गड़बड़ हो जाये, कुछ कह नहीं सकते । पर, पैसा मिलता है, इसलिए प्राण मुट्ठी में लिए यहाँ बैठे हैं ।"

जब तक इच्छाओं पर नियंत्रण नहीं होता है, तब तक एक चक्रवर्ती का भी वही हाल है, जो एक गंदी नाली के कीड़े का है ।

जीवन की यह स्थिति कितनी विचित्र है । मनुष्य पैसे के लिए कितना बड़ा बलिदान करने के लिए तैयार हो जाता है । किन्तु यह बलिदान, यह त्याग, त्याग के लिए नहीं, भोग के लिए है । कामनाओं की पूर्ति के लिए है । जीवन में त्याग के लिए त्याग की भूमिका नहीं है । मन में वासनाओं की, भोग की, सुख-ऐश्वर्य की असीम कामनाएँ उठ रही हैं । इच्छा जागृत हो रही हैं । पर स्थिति ऐसी है कि वे सफल नहीं हो पा रही हैं । शक्ति और साधन के अभाव में वे दब जाती हैं । अब आप समझे होंगे कि त्याग की भूमिका कितनी ऊँची है । उसमें इच्छाओं पर नियंत्रण करने की कितनी गहन बात है । इसमें वासनाओं का दास नहीं, स्वामी बनने का संदेश है । जब तक इच्छाओं पर नियंत्रण नहीं होता है, तब तक एक चक्रवर्ती का भी वही हाल है, जो एक गंदी नाली के कीड़े का है । भगवान् महावीर ने कहा

है- जब आप में शक्ति है, आप किसी प्रिय वस्तु का स्वतः स्फूर्त त्याग करने में समर्थ हैं, तभी आप जो त्याग करते हैं, वह सच्चा त्याग है- **'साहीणे चयइ भोए, से हु चाइत्ति वुच्चई ।'** जिस आत्मा में संसार के धन, ऐश्वर्यों, भोगों को प्राप्त करने की शक्ति है, अथवा उन्हें प्राप्त करने की इच्छा शक्ति रखता है, संकल्प उसके मन में उठते हैं, वह साधक उन इच्छाओं पर, विकल्पों पर नियन्त्रण करता है, तो वह वास्तव में त्यागी है । अन्यथा, तो जैसी कि कहावत है- **'नारी मुई घर संपत नासी, मूंड मुंडाय भए सन्यासी ।'** जैसे लाचारी के त्यागी, सन्यासी तो बहुत हैं । उनसे कोई त्याग का महत्त्व नहीं होता, बल्कि कहना चाहिए, त्याग की विडम्बना ही होती है । उपहास ही होता है । इच्छा के निरोध में त्याग है ।

वास्तव में जो त्याग है, वह वस्तु का ही नहीं, उसकी इच्छा का भी त्याग होना चाहिए । क्योंकि अंततः इच्छा ही परिग्रह है । वही बाह्य परिग्रह को बढ़ाती है । इच्छा जागृत हुई और वस्तु मिल गई । तब तो परिग्रह है ही, पर इच्छा जागृत होने पर यदि वस्तु न भी मिली तब भी वह परिग्रह है । इसका अभिप्राय यह है कि परिग्रह वस्तु में नहीं, इच्छा में है । परिग्रह का मूल इच्छा है । मात्र वस्तु को परिग्रह नहीं कहा जाता है ।

यहाँ मूल प्रश्न इच्छाओं के संयम का है । इच्छा जागृत होने पर उसका विश्लेषण करना चाहिए । जो इच्छा हमें किसी वस्तु की ओर प्रेरित कर रही है, वह इच्छा एवं वस्तु क्या है, आवश्यक है, या अनावश्यक है ? उस इच्छित वस्तु के अभाव में भी हमारा जीवन चल सकता है या नहीं । मान लीजिए आपको भूख लगी है, बड़ी जोर की भूख लगी है । अतः आपको खाने की इच्छा हुई और किसी ने आपके

सामने दाल-रोटी रख दी । आपने खाया और भूख शांत हो गई । अब आप बाजार में निकल पड़े । किसी हलवाई की दुकान के सामने पहुँच गये । वहाँ तरह-तरह की मिठाईयाँ एवं नमकीन सजे हुए थे । देखते ही आपके मुँह में पानी छूट आता है । जेब गर्म नहीं है, अतः आप कुछ ले नहीं सकते या स्वास्थ्य ठीक नहीं है अतः कुछ खा नहीं सकते । पर आपकी इच्छा उधर ही दौड़ रही है । आपको वह मिठाई बिना खाए चैन नहीं पड़ रहा है ।

यहाँ पर इच्छा का विश्लेषण करना पड़ेगा । रोटी बिना खाये जीवन नहीं चल सकता, यह सत्य है । पर क्या मिठाई बिना खाये भी जीवन चल नहीं सकता ? लाखों-करोड़ों लोग ऐसे हैं, जिन्हें जिन्दगी भर मिठाई खाने को नहीं मिलती । तो क्या उनकी जिन्दगी नहीं कटती । अतः स्पष्ट है कि रोटी की इच्छा एक आवश्यकता है और मिठाई की इच्छा एक अनावश्यक इच्छा है । रोटी के बिना जीवन नहीं चल सकता, पर मिठाई के बिना जीवन चल सकता है और चलता भी है । अस्तु, मिठाई के अभाव में हमारे मन में जो पीड़ा उत्पन्न होती है, वह निरर्थक है । इच्छा नियंत्रण द्वारा उस पीड़ा से बचा जा सकता है । इच्छाओं के निरोध को तप कहा गया है ।

रोटी की इच्छा एक आवश्यकता है और मिठाई की इच्छा एक अनावश्यक इच्छा है।

विश्व के बड़े-बड़े सम्राटों का इतिहास हम पढ़ते है कि उन्हें अपने विशाल साम्राज्य में सुख प्राप्त नहीं हुआ, वे आगे ही आगे दौड़ते रहे, राज्य-लिप्सा के चक्कर में । रावण के पास इतना बड़ा 'रनवास' था, एक से एक रूपवती रानियाँ थी । इस पर भी उसका मन संतुष्ट

नहीं हुआ और दौड़ा सीता की ओर । सीता तो नहीं मिली, अपितु उसका सर्वनाश अवश्य हो गया । भगवान् महावीर के समय में एक सम्राट् हुआ है- कोणिक । राजा श्रेणिक का पुत्र था, वह । वैशाली गणतन्त्र के अध्यक्ष राजा चेटक का दोहिता । वह भगवान् महावीर का भक्त भी था । जैन इतिहास में वर्णन आता है कि उसने अपने राज्य में इस प्रकार का एक विभाग खोला था, जिसमें बड़े-बड़े वेतनधारी पुरुष नियुक्त किए गए थे । वे भगवान् महावीर का प्रतिदिन का सुख-संवाद प्रातःकाल तक सम्राट् के पास पहुँचाते थे । जब तक भगवान् का समाचार नहीं मिल जाता था, तब तक वह अन्न-जल नहीं लेता था । इतना बड़ा श्रद्धालु और भक्त होते हुए भी वह एक बहुत बड़ा महत्वाकांक्षी सम्राट् था । प्रारम्भ से ही वह एक विलासी एवं उद्दण्ड प्रकृति का युवक था । उसका एक छोटा भाई था । एक दिन उसकी महारानी पद्मावती का मन ललचा जाता है, देवर के सेचनक हाथी और हार के ऊपर । वह सम्राट् से आग्रह कर बैठती है कि जब तक यह हाथी और हार हमें प्राप्त नहीं होता है, तब तक यह विशाल साम्राज्य बेकार है । यह विशाल वैभव व्यर्थ है । पत्नी के आग्रह और मोह के सामने वह अपना कर्तव्य तथा नीति भूल गया । मोह का उदय होने से विवेक नष्ट हो ही जाता है । संसार में जितने भी अनर्थ हुए हैं, होते हैं और होंगे उन सब के मूल में आग्रह और मोह रहता है । कोणिक ने भी बिना कुछ इधर-उधर सोचे भाई से हार तथा हाथी की मांग कर दी । हालाँकि यह एक अनुचित बात थी ।

संसार में जितने भी अनर्थ हुए हैं, होते हैं और होंगे, उन सब के मूल में आग्रह और मोह रहता है।

कोई भी संसारी व्यक्ति यों ही सहसा अपने अधिकारों का, अपनी प्रिय वस्तु का त्याग कैसे कर सकता है ? कोई लाखों वर्षों में एक-आध भीष्म या राम ही ऐसा अवतरित होता है, जो दूसरों के सुख के लिए अपना साम्राज्य, अपना सर्वस्व बलिदान कर डालता है । राजकुमार सम्राट् कोणिक की यह अनुचित मांग सुनकर स्तब्ध रह गया । यहाँ रहने में कुशल नहीं है- यह सोचकर चुपचाप नाना की शरण में वैशाली चला गया । कोणिक ने चेटक के पास दूत भेजकर राजकुमार, हार तथा हाथी को लौटा देने का प्रस्ताव भेजा । चेटक राजा कोणिक के इस अन्याय युक्त प्रस्ताव का प्रतिवाद करने को तैयार हो गया । उसने कहलाया- इतने विशाल साम्राज्य से तुम्हारी आकांक्षा भरी नहीं, जो तुम अपने भाई का अधिकार भी हड़पने की दुश्चेष्टा कर रहे हो, यह अन्याय है । वैशाली का गणतंत्र सदा न्याय का पक्ष लेता रहा है । यह शरणागत रक्षक है । अतः यह स्वप्न में भी शरण में आये हुए को लौटाना नहीं जानता ।

बस फिर क्या था ? दोनों तरफ युद्ध की रणभेरियां बज उठीं, कोणिक युद्ध के मैदान में कूद पड़ा । उधर चेटक भी काशी-कौशल के अठारह गण राजाओं के साथ युद्ध भूमि में आ डटा । चेटक अहिंसा प्रेमी श्रावक था, वह युद्ध-प्रिय नहीं था । किन्तु जब कर्तव्य का प्रश्न सामने आ खड़ा हुआ तो उसे युद्ध की चुनौती स्वीकार करनी पड़ी । अन्याय को सहन करना भी तो अन्याय है । उसका क्षात्र तेज इस प्रकार के अन्याय को कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता

अन्याय को सहन करना भी तो अन्याय है।

धर्म युद्ध का अर्थ है- कर्तव्यवश युद्ध करना।

था। इसलिए अन्याय के प्रतिकार के लिए उसे युद्ध करना पड़ा। युद्ध में भी उसने न्याय, नीति और प्रतिज्ञा को नहीं भुलाया। चेटक की प्रतिज्ञा थी कि केवल आक्रांत, अन्यायी पर ही अपना शस्त्र प्रहार करेगा, निरपराध अनाक्रांता पर नहीं। युद्ध नीति के ये मानवीय बंधन ही तो उसे धर्म युद्ध की संज्ञा देते थे। धर्म युद्ध का अर्थ है- कर्तव्य वश युद्ध करना।

वैशाली की भूमि पर भयंकर नरसंहार का दृश्य उपस्थित हो गया। चेटक का एक-एक बाण दश दिन में कालीकुमार आदि दशों भाईयों के नरमुण्ड से खेल गया। कोणिक के भी पाँव के नीचे धरती खिसकने लगी। पूर्व भव के मित्र शकेन्द्र और चमरेन्द्र ने कोणिक को समझाया चेटक के सामने तुम्हारी विजय कठिन है और न्याय भी तो तुम्हारे साथ नहीं है। व्यर्थ का अपना आग्रह छोड़ दो। किन्तु कोणिक ने एक नहीं मानी। आग्रह से ही विग्रह की आग भड़कती है। उसने कहा- मुझे उपदेश नहीं, सहायता चाहिए। तुम इस युद्ध में मेरी सहायता करो, विजय तो मेरी भुजाओं में है। कोणिक अपने हठ पर अड़ा रहा। युद्ध में इतना भयंकर नरसंहार हुआ कि जिसकी स्मृति से अब भी हृदय कांप उठता है। रणभूमि मानव रक्त से लाल हो उठी। युद्ध भूमि श्मशान भूमि में बदल गई। कहानी बहुत लम्बी है पर आप समझिए कि इतने भयंकर नरसंहार और छल-बल के आखिरी प्रयत्नों के बाद भी कोणिक के हाथ क्या लगा ? ध्वस्त वैशाली, लाशों के ढ़ेर ! यह विजय पराजय से भी अधिक भयंकर थी। अधिक गर्हित और अधिक परितापमय। प्राचीन इतिहास में

आग्रह से ही विग्रह की आग भड़कती है।

महाभारत के बाद इतने बड़े भयंकर नरसंहार की दूसरी घटना नहीं मिलती। इसके मूल में क्या था ? एक अनियंत्रित इच्छा, एक उद्दाम लालसा, जिसका जीवन के लिए कोई महत्व नहीं था, आवश्यकता नहीं थी। विचार कीजिए, कोणिक के साम्राज्य में हाथियों की कमी थी क्या ? उसके अलंकार गृह में हारों की कमी थी क्या ? फिर युद्ध किसलिए हुआ ? हार और हाथी एक स्थूल चीज थी। वास्तव में युद्ध उसकी नग्न इच्छाओं का ही प्रतिफल था। अनावश्यक कामनाओं का यह द्वन्द्व लाखों-करोड़ों मनुष्यों के रक्त से भी शांत नहीं हुआ। धन, धरती और नारी की लिप्सा ही तो युद्धों का मूल बीज रहा है।

धन, धरती और नारी की लिप्सा ही तो युद्धों का मूल बीज रहा है।

दुराशा में सर्वनाश :

कोणिक के जीवन के प्रसंग में एक बात और सामने आती है। वह यही है कि अनावश्यक इच्छाएँ जीवन के लिए सर्वथा अनुपयोगी है। यह संसार के विनाश का कारण होती है, सर्वनाश का ही कारण बनती है, निर्माण का नहीं। अतः इच्छाओं का नियन्त्रण आवश्यक है।

वैशाली-विजय के बाद कोणिक की उद्दाम इच्छाएँ चक्रवर्ती बनने का स्वप्न देखने लगी। भगवान् महावीर के समक्ष उसने जब अपना यह दुःस्वप्न प्रकट किया, तो भगवान् ने उसे समझाया- 'कोणिक, यह आशा दुराशामात्र है। बारह चक्रवर्ती हो चुके हैं, अब इस अवसर्पिणी काल में कोई चक्रवर्ती सम्राट् नहीं होगा। चक्रवर्ती बनने का दुःस्वप्न छोड़ दो। जो तुम्हारे दुष्कर्मों का प्रतिफल है, उसे शान्त-भाव से स्वीकार करो !' किन्तु कोणिक न माना। आप कहेंगे कि जब वह भगवान् का भक्त था,

भगवान् और इन्सान के बीच जब शैतान आ जाता है, तो वह इन्सान को भगवान् की ओर से हटा देता है।

तो उसने उनकी बात क्यों नहीं मानी । लेकिन भगवान् और इन्सान के बीच जब शैतान आ जाता है, तो वह इन्सान को भगवान् की ओर से हटा देता है । कोणिक का अहंकार शैतान बन गया । कोणिक की चक्रवर्ती बनने की इच्छा भगवान् के उपदेश से शान्त नहीं हुई । वह इतना तो जानता ही होगा कि भगवान् जो कुछ कह रहे हैं, वह त्रिकाल-सत्य है । संसार की कोई भी शक्ति उस सत्य को बदल नहीं सकती । किन्तु फिर भी उसका दुस्साहस देखिए कि वह अपना दुःसंकल्प नहीं छोड़ सका । इच्छाओं की घनघोर काली घटा उसके मन और मस्तिष्क पर ऐसी छाई कि सत्य की ज्योति किरण का वह दर्शन ही नहीं कर सका ।

कोणिक ने अपने चक्रवर्ती बनने के स्वप्न को साकार करने की ठान ही ली । चक्रवर्ती के असली रत्न नहीं पा सका, तो उसने नकली चौदह रत्न बना लिए । अपने मित्र राजाओं का दल-बल लेकर वह छह खण्ड विजय करने को निकल पड़ा । विजय-यात्रा करते-करते वह पहुँचता है- वैताढ्य पर्वत की तमिस्रा गुफा के द्वार पर । गुफा के देव ने पूछा- तुम कौन हो ? किसलिए आए हो ? कोणिक ने कहा- मैं चक्रवर्ती हूँ । छह खण्ड विजय करने जा रहा हूँ ।

कोणिक की इस मूर्खता पर देव हँसा और तरस खाकर बोला- "राजन् ! लौट जाओ । तुम गलत महत्वाकांक्षाओं के तूफान में भटक गए हो । उचित-अनुचित का विवेक खो बैठे हो ? इस युग के बारह चक्रवर्ती हो चुके हैं । अब तुम कौन से चक्रवर्ती हो ? किस युग के हो ?"

कोणिक का अहंकार प्रदीप्त हो गया। बोला- 'मैं चक्रवर्ती होने जा रहा हूँ। क्या हुआ, जो बारह हो गए, तेरहवां क्यों नहीं हो सकता ? यदि किसी की भुजाओं में बल है, तो उसे कौन रोक सकता है ? देखो, मेरे पास भी चौदह रत्न हैं, विशाल-वाहिनी है, बड़े-बड़े मुकुटधारी राजा लोग मेरी सेवा में खड़े हैं, मैं चक्रवर्ती क्यों नहीं हो सकता ? मैं चक्रवर्ती हूँ, दूर हटो। मेरा पथ छोड़ दो।'

देव ने कहा- कैसा जिद्दी है यह। कितना महत्वाकांक्षी है। उसने फिर समझाया पर आदमी महत्वाकांक्षाओं के तूफान में भटक जाने के बाद जल्दी संभल नहीं सकता। कोणिक ने देवताओं को चुनौती दी। इसका यह परिणाम हुआ कि कोणिक वहीं ढ़ेर हो गया। कोणिक की आत्मा ने शरीर छोड़ा, नरक की राह पकड़ी। अपने ही हाथों अपना सर्वनाश कर डाला- उस इच्छा और अहंकार के पुतले ने। अहंता और ममता- दोनों विकास में बाधक है। सर्वनाश की ओर ले जाते हैं। कोणिक आज हमारे सामने नहीं है और रावण भी नहीं है, जरासंध और दुर्योधन भी नहीं है किन्तु देखना है उनकी वासनाएँ, इच्छाएँ और अहंकार आज हमारे में है या नहीं।

आदमी महत्वाकांक्षाओं के तूफान में भटक जाने के बाद जल्दी संभल नहीं सकता।

मनुष्य जीवन में जो भी प्रयत्न करता है, वह सुख भोग के लिए करता है, आनन्द के लिए करता है। किन्तु वह आनन्द कब मिल सकता है ? जब मन में आनन्द हो। जिस प्रकार वस्तु परिग्रह नहीं है, उसी प्रकार वस्तु आनन्द भी नहीं है। न साम्राज्य में आनन्द है और न वैभव में। यह सब तो जड़ है, आनन्द चैतन्य है। उपनिषद् के ऋषि

ने कहा- **आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्** - आनन्द ही ब्रह्म है । यह आनन्द ही जीवन का परम लक्ष्य है । वह चैतन्य है । अतः इसका निष्कर्ष यह हुआ कि आनन्द प्राप्ति के लिए इच्छाओं के पीछे भटकने की जरूरत नहीं है । इच्छाओं पर नियंत्रण करने की जरूरत है । जीवन में अब तक क्या मिला है और क्या प्राप्त करना शेष है, इस चक्कर में मत फंसो । भगवान् महावीर ने कहा है- **इमं च मे अत्थि, इमं च नत्थि ।** - यह मेरे पास है, यह नहीं है । इस भंवर जाल में जो आदमी फँसा, वह डूब गया मंझधार में । सुख और आनन्द का मार्ग यही है कि जो तुम्हें प्राप्त है, अपने प्रारब्ध एवं पुरुषार्थ से जीवन में जो कुछ पा सके हो, उसी में आनन्द की अनुभूति करो । इच्छाओं को वहीं पर केन्द्रित करो । जो असंभव है, अशक्य है, जिसे प्राप्त नहीं कर सकते और जिसे प्राप्त करके जीवन को कुछ लाभ नहीं होने वाला है, उसकी चिन्ता छोड़ दो । इच्छाओं और आशाओं को मोड़ लो । इच्छाओं पर संयम आवश्यक है ।

सुख और आनन्द का मार्ग यही है कि जो तुम्हें प्राप्त है, उसी में आनन्द की अनुभूति करो ।

भगवान् महावीर ने जीवन की इसी प्रक्रिया को इच्छा परिमाण व्रत कहा है, अनन्त इच्छाओं का सीमाकरण कहा है । जब इच्छाएँ सीमित होंगी तो आवश्यकताएँ भी सीमित हो जायेंगी । जब आवश्यकताएँ सीमित होगी तो मनुष्य की जीवन-यात्रा के द्वन्द्व, संघर्ष, विग्रह कम हो जायेंगे । अतः द्वन्दातीत स्थिति में ही सुख है, शांति है, आनन्द है । अन्ततः वही आनन्द जीवन का परम सत्य है ।

अहिंसा, हिंसा को सहने भर के लिए हो गई है। बर्बर अत्याचार हो रहा हो, दमन चक्र-चल रहा हो, बेगुनाहों का कत्लेआम हो रहा हो, और हम अहिंसावादी चुपचाप यह सब सहन करते जाएं कि हम कितने साधु पुरुष हैं, कितने क्षमाशील, संयमी हैं ? आज के अहिंसावादी धर्मगुरु, अपने लाखों अनुयायी होने का दावा करते हैं, यदि सामूहिक रूप में अहिंसात्मक प्रतिकार के लिए ये लोग नंगी संगीनों के सामने छातियाँ खोलकर खड़े हो जायें तो एक देश तो क्या सारा विश्व हिल उठेगा।

जीवन एवं संरक्षण

विश्व के समस्त प्राणी दुख एवं पीड़ा से मुक्ति चाहते हैं। चाहे वे छोटे हों या बड़े, मानव हो अथवा पशु, सभी जीना चाहते हैं। मरना कोई भी नहीं चाहता।[1] सब को सुख प्रिय है, दुःख अप्रिय है। सबको अपना जीवन प्यारा है।[2] जिस हिंसक व्यवहार को एक अपने लिए पसंद नहीं करता। दूसरा क्यों कर उसे चाहने लगा। यही जिनशासनों के कथनों का सार है। जो एक प्रकार से सभी धर्मों का सार है।[3] आज से अढ़ाई हजार वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने जिस महाकरुणा (अहिंसा) का संदेश विश्व को दिया था। आज भी उसकी महत्ता यथावत् अक्षुण्ण है बल्कि कहना चाहिए , उसका महत्व आज के प्रजातान्त्रिक विश्व-शासन युग में और अधिक बढ़ गया है।

मैत्री तथा करुणा :

अहिंसा सिर्फ हिंसा नहीं करने का नाम भर ही नहीं है, अपितु यह मैत्री, करुणा और सेवा की महान् साधना का अपर नाम है। हिंसा नहीं करना- यह तो अहिंसा का एक पक्ष है। समाज की दृष्टि से

---

1. सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउं न मरिज्जिउं। - दशवैकालिक सूत्र, 6/11
2. सव्वे पाणा पिआउया सुहसाया दुहपडिकूला। - आचारांग सूत्र, 1/2/3
3. जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
   तं इच्छ परस्स वि, एत्तियग्गं जिण-सासणयं। - बृहत्कल्प भाष्य, 4584

अधूरी साधना है । संपूर्ण अहिंसा की साधना के लिए प्राणी मात्र के साथ मैत्री भाव रखना, उनकी सेवा करना, उन्हें कष्ट से मुक्त करना आदि विधेयात्मक पक्ष पर भी समुचित चिंतन-मनन करना होगा । जैन आगमों में जहाँ अहिंसा के साठ एकार्थक नाम दिये गये है, वहाँ वह दया, रक्षा, अभय आदि के नाम से भी अभिहित की गई है ।[1]

जैन आगमों, दर्शनों एवं साधना पंथों में ही अहिंसा को सर्वोपरि माना गया है, ऐसी बात नहीं- विश्व के सभी धर्मों ने अहिंसा को एक स्वर से स्वीकारा है । बौद्ध धर्म में अहिंसक व्यक्ति को आर्य (श्रेष्ठ पुरुष) कहा गया है । इसका अटल सिद्धांत इसी भावना पर आधारित है कि मानव दूसरों को अपनी तरह जानकर न तो किसी को मारे और न किसी को मारने की प्रेरणा करें ।[2] जो न किसी का घात करता है और न दूसरों से करवाता है, न स्वयं किसी को जीतता है न दूसरों से जीतवाता है, वह सब प्राणियों का मित्र होता है, उसका किसी के साथ वैर नहीं होता है ।[3]

अहिंसा परमो धर्मः

वैदिक धर्मों में भी 'अहिंसा परमो धर्मः' के अटल सिद्धांत को समक्ष रख कर उसकी महत्ता को स्वीकारा गया है । अहिंसा ही सबसे उत्तम एवं पावन धर्म है, अतः मनुष्य को कभी भी, कहीं भी और किसी

---

1. प्रश्न व्याकरण सूत्र (संवर द्वार)
   (क) दया देहि-रक्षा — - प्रश्नव्याकरण वृत्ति
2. सव्वे, तसंति दण्डस्स, सव्वेसं जीवितं पियं ।
   अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये ।। — - धम्मपद 10/1
3. यो न हन्ति न धावेति, न जिनाति न जायते ।
   मित्तं सो सव्व भूतेसु, वैरं तस्स न केनचित् ।। — - इतिवुत्तक पृ. 20

भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए ।[1] जो कार्य तुम्हें पसंद नहीं, उसे दूसरों के लिए भी न करो ।[2] इस नश्वर जीवन में न तो किसी प्राणी की हिंसा करो, न किसी को पीड़ा पहुचाओ । बल्कि सभी आत्माओं के प्रति मैत्री भावना स्थापित कर विचरण करते रहो । किसी के साथ वैर न करो ।[3]

यही नहीं अपने को लड़ाकू एवं बलिदान प्रिय धर्म की दुहाई देने वाले इस्लाम धर्म के भीतर झाँक कर देखें तो वह भी अहिंसा की नींव पर टिका हुआ प्रतीत होगा । इस्लाम धर्म में भी कहा गया है- "खुदा सारी दुनियाँ (खल्क) का पिता (खालिक) है । दुनियाँ में जितने प्राणी है, वे सब खुदा के बंदे (पुत्र) हैं । कुरान शरीफ की शुरुआत में 'विस्मिल्लाह रहिमानुर्रहीम' कहकर खुद को रहम का देव कहा है, कहर का नहीं । हजरत अली साहब ने तो पशु-पक्षियों तक पर रहम करने को कहा है- " हे मानव, तूं पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट में मत बना । कुरान शरीफ का फरमान है कि जिसने किसी की जान बचाई - उसने मानो सारे इन्सानों की जिन्दगी बख्शी ।"[4]

ईसाई धर्म में उद्बोधन देते हुए महात्मा ईसा ने कहा है कि- 'तू तलवार म्यान में रख ले, क्योंकि जो लोग तलवार चलाते हैं, वे सब तलवार से ही नाश किए जाएंगे ।' अन्यत्र भी उन्होंने कहा है- "तुम

---

1. अहिंसा परमो धर्मः सर्व-प्राण-भृतांवर : ।
   तस्मात् प्राणभूतः सर्वान् मा हिंस्यान्मानुषः क्वचित् । - महाभारत आदि पर्व 1/1/13
2. आत्मनः प्रतिकूलानि, परेषां न समाचरेत् ।
3. न हिंस्यात् सर्व-भूतानि, मैत्रायण-गतश्चरेत् ।
   नेदं जीवितमासाद्य, वैरं कुर्वत केनचित् ।। - महाभारत, शांति पर्व 278/5
4. व मन् अहया हा फक अन्नया अह्यन्नास अमीअनः । - कुरान शरीफ 5/35

अपने दुश्मन को भी प्यार करो और जो तुम्हें सताते हैं, उनके लिए भी प्रार्थना करो ।" यदि तुम उन्हीं से प्रेम करो, जो तुमसे प्रेम करते हैं, तो तुमने कौन सी बड़ी बात की ?

यहूदी धर्म में कहा है- "किसी आदमी के आत्म-सम्मान को चोट नहीं पहुँचानी चाहिए । लोगों के सामने किसी आदमी को अपमानित करना उतना ही बड़ा पाप है, जितना कि उसका खून कर देना ।" प्राणिमात्र के प्रति निर्वैर भाव रखने की प्रेरणा देते हुए यह कहा है कि "अपने मन में किसी के प्रति वैर या दुर्भाव मत रखो ।"

पारसी धर्म के महान् प्रवर्तक महात्मा जरथुस्र का कथन है कि "जो सबसे अच्छे प्रकार की जिन्दगी गुजारने से लोगों को रोकते हैं, अटकाते हैं और पशुओं को मारने की सिफारिश करते हैं, उनको अहुर-मज्द बुरा समझते हैं ।"

ताओ धर्म के महान् नेता-लाओत्से का सन्देश है- "जो लोग मेरे प्रति अच्छा व्यवहार नहीं करते, उनके प्रति भी मैं अच्छा व्यवहार करता हूँ ।"

कोगफ्यूत्सी ने कनफ्यूशियस धर्म का प्रवर्तन करते हुए कहा था- "जो चीज तुम्हें नापसन्द है, वह दूसरों के लिए हरगिज मत करो ।"

कहने का तात्पर्य यह है कि विश्व का ऐसा कौन सा धर्म है, जो खून-खराबे की दाद देता है । प्रायः सभी ने एक स्वर से प्राणी-रक्षा, प्राणी-मैत्री एवं 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का संदेश दिया है ।

किन्तु खेद की बात है कि आज विश्व आँख मूँद कर भयंकर हिंसा को प्रश्रय दे रहा है । लाखों ही निरपराध व्यक्ति गाजर-मूली की तरह काटकर समाप्त किए जा रहे हैं । किसी को संगीनों पर उछाला जा

रहा हैं, तो किसी को जिन्दा जलाया जा रहा है। घायलों की मर्माहत चीत्कारें दिल को दहला देती है। हजारों घर लूटे जा रहे हैं, जलाए जा रहे हैं। मौत नंगी होकर नाच रही है। कुमारी-कन्याओं एवं सती-सुहागिनों के साथ खुलेआम बलात्कार किये जाते हैं, जिसे देखकर शर्म की आँखें भी शर्म से नीचे झुक जाती है। और फिर उन्हें गोलियों से भून दिया जाता है। कुछ सुन्दरियों को बन्दी बनाकर बेच भी दिया जाता है। इन्सान-इन्सान नहीं रहा है, शैतान हो गया है, शैतान से भी बदतर !

इन्सान-इन्सान नहीं रहा है, शैतान हो गया है, शैतान से भी बदतर।

संस्कृति तथा अहिंसा :

आज के उक्त अमानवीय पैशाचिक कुकृत्यों को देखने के लिए कहीं दूर जाने की जरूरत नहीं है। भारत के ही निकट पड़ोसी बांग्लादेश में, पाकिस्तान के क्रूर एवं हृदयहीन शासकों के हुकम पर नित्य-प्रति हो रहे कुकृत्यों को देखा जा सकता है। सैनिक पागल हो गए हैं। लगता है उनमें मानवता का कुछ भी अंश नहीं बचा है और यह सब हो रहा है, देश, धर्म और संस्कृति की रक्षा के नाम पर। मानव-जाति पर अत्याचार भूतकाल में भी हुए हैं। इन्सान ने सुन्दर एवं मोहक आदर्शों के नाम पर कुछ कम कष्ट नहीं भोगे हैं।

किन्तु पाकिस्तान बांग्लादेश में जो कुछ कर रहा है, उसका उदाहरण इतिहास में खोजे नहीं मिल रहा है। आवश्यक है, आज का प्रबुद्ध जन समाज इन लोमहर्षक अत्याचारों की मुक्त भाव से भर्त्सना करें। प्रतिरोध के लिए एकजुट हो जाये। पाकिस्तान की अक्ल ठिकाने

धरती पर के अनेक राष्ट्र केवल अपने स्वार्थ की भाषा में ही सोचते हैं, मानवता की भाषा में नहीं।

लाने के लिए कुछ और विशेष करने की अपेक्षा नहीं है। अपेक्षा है- केवल सामूहिक रूप में नैतिक आक्रमण की, अहसयोग की। पाकिस्तान को विश्व के राष्ट्रों से जो सहयोग मिल रहा है, शस्त्रास्त्र और आर्थिक रूप में, यदि वह बन्द कर दिया जाए, तो पाकिस्तान तत्काल घुटने टेक सकता है। किन्तु खेद है यह कुछ हो नहीं रहा है। धरती पर के अनेक राष्ट्र केवल अपने स्वार्थ की भाषा में ही सोचते हैं, मानवता की भाषा में नहीं। विश्व के मानवतावादी बड़े-बड़े राष्ट्र यह सब अत्याचार मूँदी आँखों से देख रहे हैं। बहरे कानों से उक्त काले कारनामों की कथा सुन रहे हैं। रोज समाचार पत्र के पृष्ठ के पृष्ठ रंगे होते हैं कि बांग्लादेश में जघन्य हत्याकाण्ड हो रहे हैं। मानवता को लजा देने वाले अत्याचार हो रहे हैं। फलस्वरूप अपनी जान और इज्जत बचाकर भारत में लाखों पुरुष-स्त्री, बच्चे-बूढ़े शरण के लिए आ रहे हैं, अब भी आ रहे हैं। किन्तु बड़े राष्ट्र हैं कि देखकर भी अनदेखा कर रहे हैं। सुनकर भी अनसुना कर रहे हैं। ऐसा भी नहीं कि चुप होकर निरपेक्ष बैठे हैं अपितु विपरीत दिशा में चल रहे हैं। अमेरिका जैसा महान् राष्ट्र एक ओर भारत में आये पीड़ित बंगाली प्रवासियों के लिए लाखों डॉलर की सहायता दे रहा है और दूसरी तरफ यह खबर भी है कि अमेरिका, पाकिस्तान को शस्त्रास्त्रों से लदे जहाज भेज रहा है। भयानक हत्यारों की मदद दे रहा है। ताज्जुब है कि एक ही देश एक तरफ घातक हत्यार देकर नरसंहार को बढ़ावा देता है और दूसरी तरफ वही देश जान बचाकर भारत में भाग कर आये शरणार्थियों की रक्षा के लिए धन प्रदान कर सहायता का हाथ बढ़ाता है। यह कैसी

विचित्र विसंगति है । चाहिए तो यह था कि शस्त्रास्त्रों की सहायता तत्काल बंद कर सर्वप्रथम पाकिस्तान के सैनिक जुंटा को होश में लाया जाता, उसके क्रूर इरादों को बदला जाता, पश्चाताप के लिए मजबूर किया जाता और बांग्लादेश की पीड़ित जनता के अधिकारों का उचित संरक्षण किया जाता । फिर समस्त प्रवासी लोगों की जान-माल की रक्षा का प्रयत्न किया जाता, और उन्हें जल्दी ही अपनी प्रिय जन्म भूमि में वापस भेजा जाता । कहने की बात नहीं कि बंगबंधु मुजीब को बांग्लादेश के करोड़ों मुस्लिम, ईसाई, हिन्दू, बौद्ध जनता ने अपना नेता चुना था । मुजीब के आवामी दल को अपना पूर्ण समर्थन प्रदान कर बांग्लादेश में लोकतंत्र की स्थापना की ओर कदम बढ़ाया था । राष्ट्रपति याह्या खाँ ने चुनाव से पूर्व वादा किया कि चुनाव के बाद सैनिक शासन समाप्त कर दिया जाएगा और जनता के चुने प्रतिनिधियों के हाथों में पाकिस्तान का शासन सौंप दिया जाएगा । इसी संदर्भ में जब बंगबन्धु मुजीब के दल ने स्पष्ट बहुमत प्राप्त कर लिया तो याह्या खाँ ने उन्हें पाकिस्तान का भावी प्रधानमंत्री कहकर सम्बोधित भी किया था । किन्तु जल्दी ही सत्ता लोलुप निरंकुश फौजी जनरलों के हाथों में खेल गए और समझौता वार्ता का नाटक खेलते-खेलते शक्ति संग्रहकर अचानक निरपराध जनता पर आक्रमण कर खून की होली खेलनी शुरू कर दी । पागलपन की भी एक सीमा होती है, किन्तु मालूम होता है- पाकिस्तान के मन-मस्तिष्क-विहीन शासकों में इसकी भी कोई सीमा-रेखा नहीं है । छह सूत्री कार्यक्रमों की सार्वजनिक घोषणा के आधार पर जिसने चुनाव लड़ा और जिसे भावी प्रधानमन्त्री कहा जाता रहा, वह एक ही रात में देशद्रोही हो गया, गद्दार हो गया और अब उसके लिए गुप्त सैनिक अदालत में इन्साफ का ड्रामा खेलकर फाँसी का फंदा तैयार किया जा रहा है । विवेक-भ्रष्टों का यह पतन है । जो शत-सहस्रमुख होता है, उसकी कोई सीमा-रेखा नहीं होती ।

आश्चर्य है- नाम मात्र की हलचल के बाद, विश्व के बड़े-बड़े राष्ट्र चुप है । इससे भी अधिक आश्चर्य है, उन अहिंसा, दया और करुणा के उद्घोषक धर्म गुरुओं पर, जिनकी दृष्टि में जैसे कुछ हो ही नहीं रहा है । कहाँ है वह अहिंसा, कहाँ है वह करुणा, कहाँ है वह मानवता, जिसके ये सब दावेदार बने हुए हैं ? क्या धर्म मरने के बाद ही समस्याओं का समाधान करता है ? इस धरती पर जीते जी कोई समाधान नहीं है, उसके पास । आज मानव ने दानव का रूप ग्रहण कर लिया है ।

अहिंसा पर नए सिरे से विचार करने का अवसर आ गया है । लगता है, अहिंसा के पास करने जैसा कुछ नहीं रहा है । वह सब ओर से सिमटकर एक 'नकार' पर खड़ी हो गई है । नकार की अहिंसा में प्राणवत्ता नहीं, वह निर्जीव हो जाती है । अहिंसा का अर्थ अब हिंसा न करना है, वह भी एकांगी, स्थूल दिखावा भर, साथ ही तर्कहीन हैं । जीवनचर्या के कुछ अंग ऐसे हैं, जिसमें से तो अहिंसा जैसा लगता है, किन्तु अगल-बगल की, अन्दर की पृष्ठभूमि में झाँककर देखें, तो हिंसा का नग्न नृत्य होता नजर आता है । दूसरी ओर अहिंसा, हिंसा को सहने भर के लिए हो गई है । बर्बर अत्याचार हो रहा हो, दमन चक्र-चल रहा हो, बेगुनाहों का कत्लेआम हो रह हो और हम अहिंसावादी चुपचाप यह सब सहन करते जाए कि हम कितने साधु पुरुष हैं, कितने क्षमाशील, संयमी हैं ।

अन्याय एवं अत्याचार :

आज अहिंसा, अन्याय एवं अत्याचार के विरोध में अपनी प्रचण्ड प्रतिकार शक्ति खो चुकी है । अहिंसा, हिंसा को केवल सहन करने के

अहिंसा, हिंसा को केवल सहन करने के लिए नहीं है। उसे हिंसा पर प्रत्याक्रमण करना चाहिए।

लिए नहीं है । उसे हिंसा पर प्रत्याक्रमण करना चाहिए । गाँधीजी के युग में ऐसा कुछ हुआ था, परन्तु जल्दी-जल्दी ही अहिंसा के इस ज्वलन्त रूप पर पाला पड़ गया और आज अहिंसा ठण्डी हो गई है । आज के अहिंसावादी धर्मगुरु, अपने लाखों अनुयायी होने का दावा करते हैं, यदि सामूहिक रूप में अहिंसात्मक प्रतिकार के लिए ये लोग बांग्लादेश की सीमाएँ पार करें और नंगी संगीनों के सामने छातियाँ खोलकर खड़े हो जाएंगे तो पाकिस्तान तो क्या, सारा विश्व हिल उठेगा । जब विश्व की ओर से उक्त हजारों, लाखों बलिदानियों को लेकर पाकिस्तान पर सामूहिक नैतिक आक्रमण होगा तो पाकिस्तान का दम्भ टूट जाएगा । पर ऐसा नैतिक साहस है कहाँ आज के अहिंसावादियों में ? साग-सब्जी और कीड़े-मकोड़े की नाम मात्र की अहिंसा करके ही आज के ये तथाकथित अहिंसावादी संतुष्ट हैं । तथा अहिंसा की यह निर्माल्य प्रक्रिया अहिंसा के दिव्य तेज को धूमिल कर रही है । यदि आपकी अहिंसा विश्व के जघन्य हत्याकांडों का वस्तुतः कोई प्रतिकार नहीं कर सकती, तो फिर अहिंसा का दम्भ क्यों ? फिर तो क्यों नहीं, यह स्पष्ट घोषणा कर देते कि हिंसा का उत्तर हिंसा ही है, अहिंसा नहीं । पर इतना भी साहस कहाँ है ?

प्रत्यक्ष अहिंसक प्रत्याक्रमण की बात छोड़िए, आज तो ये मेरे धर्म गुरु साथी मौखिक विरोध भी नहीं कर रहे हैं । हजारों की सभा में उपदेश होते हैं, वही घिसे-पिटे शब्द जिसमें कुछ भी तो प्राण नहीं । वर्तमान की समस्याओं को छूते तक नहीं । समग्र उपदेश जीवन के पार

मृत्यु के दायरे में जा रहा है। इनके स्वर्ग और मुक्ति मरने पर है, जीते जी नहीं। होना तो यह चाहिए था कि हजारों धर्मगुरु प्रतिदिन के प्रवचनों में बांग्लादेश के जातीय विनाश के सम्बन्ध में खुलकर बोलते, हिंसा के विरोध में वातावरण तैयार करते। कम से कम इतना तो हो सकता था, पर देखते है, इतना भी कहाँ हुआ ?

सितम्बर 1971 जैन भवन, मोतीकटरा, आगरा

मानव जीवन को विकसित एवं प्रगतिशील बनाने के लिए श्रद्धा और तर्क दोनों के समान विकास की आवश्यकता है । श्रद्धा की उपेक्षा करके केवल तर्क के आधार पर भारतीय संस्कृति खड़ी नहीं रह सकती । और तर्क-विहीन श्रद्धा भी भारतीय संस्कृति को प्रेरणा प्रदान नहीं कर सकती । भारतीय संस्कृति के अनुसार श्रद्धा का पर्यवसान तर्क में होता है और तर्क का पर्यवसान श्रद्धा से होता है । यद्यपि धर्म का मुख्य आधार श्रद्धा है और दर्शन का मुख्य आधार तर्क है किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी भारतीय संस्कृति में हृदय को बुद्धि बनना पड़ता है और बुद्धि को हृदय बनना पड़ता है । हृदय की प्रत्येक धड़कन में बुद्धि का विमल प्रकाश अपेक्षित रहता है । और बुद्धि की प्रत्येक सूझ में श्रद्धा के संबल की आवश्यकता रहती है । यदि श्रद्धा और तर्क में समन्वय स्थापित नहीं किया गया तो इन्सान का दिमाग आकाश में घूमता रहेगा और उसका दिल धरती के खण्डहरों में दब जायेगा ।

जीवन और अहिंसा

भारतीय संस्कृति में कृषि का बड़ा महत्व और गौरव माना गया है। प्रारम्भ से ही भारत कृषि प्रधान देश है। आज भी भारत में कृषि-कर्म करने वाले व्यक्तियों की संख्या अधिक है। कृषि अहिंसा की आधार-शिला है। मांसाहार से विरत होने के लिए और सात्विक भोजन की स्थापना के लिए, कृषि का बड़ा ही महत्व है। मांसाहार से बचने के लिए कृषि-कर्म से बढ़कर अन्य कोई साधन नहीं हो सकता। इसी आधार पर भारतीय संस्कृति को, कृषि को, अहिंसा देवता माना गया है। कृषि करने वाले व्यक्ति को वैदिक भाषा में पृथ्वी पुत्र कहा गया है। जैन परम्परा के अनुसार कृषि कर्म के सर्वप्रथम उपदेष्टा भगवान् ऋषभदेव हैं। उन्होंने ही अपने युग के अबोध एवं निष्क्रिय मानव को कृषि-कला की शिक्षा दी थी। उस युग की मानव-जाति के उद्धार के लिए कृषि-कर्म का उपदेश और शिक्षा आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य थी। जैन धर्म में कृषि कर्म को आर्य-कर्म कहा गया है। जैन परम्परा के विख्यात श्रावकों ने स्वयं कृषि-कर्म किया था, उस दृष्टि से भी जैन संस्कृति में कृषि-कर्म का एक विशिष्ट स्थान है। जैन संस्कृति के मूल प्रवर्तकों ने कृषि को आर्य-कर्म कहा था, परन्तु मध्यकाल में आकर कुछ व्यक्तियों ने इसे हिंसामय कर्म करार देकर त्याज्य समझा। जैन संस्कृति आरम्भ, समारम्भ और महारम्भ के परित्याग का उपदेश देती है, यह ठीक है किन्तु हमें यह देखना होगा कि मांसाहार जैसे महारम्भ से बचने के लिए

कृषि के अतिरिक्त अन्य साधन नहीं हो सकता । एक समय ऐसा आया कि कुछ विचारकों ने उस युग के जन-मानस में अहिंसा की एक धुंधली तस्वीर खड़ी कर दी । परिणामतः उन्होंने जिन्दगी के हर मोर्चे पर पाप ही पाप देखना प्रारम्भ कर दिया । आरम्भ-समारम्भ का परित्याग अच्छी बात है, पर खेती में भी महापाप समझना और इसे छोड़कर भाग खड़े होना- यह जब प्रारम्भ हुआ तब कृषि का धन्धा हमारी नजरों में हेय हो गया । हमारा सामाजिक दृष्टिकोण यह बन गया कि कृषि का धन्धा निकृष्ट कोटि का है, अतः हेय है । कृषि द्वारा अन्न का उत्पादन हो, इसके पीछे हमारा अहिंसा का दृष्टिकोण यह था कि मांसाहार की प्रवृत्ति लोगों में बन्द हो और वे कृषि की ओर आकृष्ट हों । जब कृषि जैसे सात्त्विक कर्म को अपनाया जाएगा, तभी मांसाहार जैसे भयंकर पाप से हम बच सकेंगे । मांसाहार छोड़ना, यह हमारी सांस्कृतिक जीवन यात्रा का प्रारंभिक उद्देश्य है और इस उद्देश्य की पूर्ति कृषि-कर्म से ही हो सकती है । इसी आधार पर जैन-संस्कृति में कृषि-कर्म को अल्पारम्भ और आर्य-कर्म कहा गया है ।

अभिप्राय यह है कि अहिंसा की स्मृति जितनी हमारी आगे बढ़ी, उसके साथ-साथ उसमें एक धुंधलापन भी आगे बढ़ता गया और उसमें भी हमारा जो मूल अभिप्राय था, वह समय के साथ-साथ क्षीण होता चला गया । इसलिए आगे चलकर कुछ लोगों ने कृषि को महारम्भ स्वीकार कर लिया और जब उसे महारम्भ स्वीकार कर लिया तो उसे छोड़ने की बात भी लोगों के ध्यान में आने लगी । लोग अपनी बात सिद्ध करने के लिए आगम का आधार तलाशने लगे, परन्तु आगम में जो महारम्भ का फल बताया है, उसमें कहा गया है कि महारम्भ नरक में जाने का कारण बनता है । अब विचार कीजिए कि जब कृषि को

महारम्भ बताया गया तब उसकी फलश्रुति के अनुसार नरक में जाने की बात भी लोगों के सामने आई। लोगों ने विचार किया परिश्रम भी करें और फिर नरक में भी जाना पड़े, तो इस प्रकार का गलत धन्धा क्यों करें। इस प्रकार के मिथ्या तर्कों से जनता के मानस को बदलने का प्रयत्न किया गया। परिणामतः जैनों ने कृषि-कर्म का परित्याग कर दिया। अन्यथा भारतीय संस्कृति और विशेषतः जैन संस्कृति में मूलतः अहिंसा का दृष्टिकोण लेकर चला था- यह कृषि-कर्म।

अहिंसा और होलिका पर्व :

मैंने आपसे भगवान् ऋषभदेव की बात कही थी। भगवान् ऋषभदेव के युग में कृषि-कर्म एक पवित्र-कर्म समझा जाता था। उस युग के मानव समाज में यह एक बहुत बड़ी क्रांति थी। जब जन-जीवन में नयी क्रांति होती है और जब वह अनेक विघ्न-बाधाओं से निकलकर प्रशस्त पथ पर आगे बढ़ती है, तब जन-जीवन में आनन्द और उल्लास छा जाता है। उस क्रांति का उल्लास और आनन्द होलिका के रूप में हमारे सामने आया। प्रतिवर्ष यह हमारी परम्परा और संस्कृति का अंग बनकर हमारे सामने आता रहता है, आज भी। इस शुभ अवसर पर हम एक-दूसरे से मिल-जुलकर सामाजिक आनन्द का उपभोग करते हैं। होलिका पर्व पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र सब परस्पर मिलकर आनन्द और उल्लास मनाते हैं। होलिका पर्व के अन्दर किसी प्रकार का भेद-भाव न रहता था। यह हमारी मूल संस्कृति का पावन प्रतीक है। यह पर्व हर इन्सान को प्रेम का पाठ पढ़ाकर मानव-समाज में परिकल्पित ऊँच-नीच के भाव को दूर करता है। वर्तमान समय में इसमें कुछ विकृतियाँ अवश्य आ गई हैं। गन्दी गाली देना और गन्दी हरकत करना, इस पर्व के आवश्यक अंग मान लिए गए हैं। परन्तु यथार्थ में यह ठीक

जीवन में विनोद अवश्य होना चाहिए, पर किसी प्रकार का विरोध नहीं।

नहीं है। हम स्वयं हँसे और दूसरे को हँसाएँ, यह तो ठीक है, पर हम दूसरों के साथ ऐसा मजाक करें, जो हमारी मूल संस्कृति और मूल परम्परा के विरुद्ध हो, उसका तो परित्याग करना ही आवश्यक है। जीवन में विनोद अवश्य होना चाहिए, पर किसी प्रकार का विरोध नहीं। पर्व हम आज भी मनाते हैं, किन्तु आज हम केवल उसके शरीर की आराधना करते हैं, उसकी मूल आत्मा को आज हम भूल चुके हैं। आवश्यकता इस बात की है कि हम पर्व के शरीर को नहीं, उसकी मूल आत्मा को पकड़ने का प्रयत्न करें, तभी सच्चे अर्थों में जन-जीवन में उल्लास और आनन्द प्रकट हो सकेगा। होली के पर्व की सार्थकता इसी में है कि हम सब मिलजुलकर आनन्द और उल्लास प्राप्त कर सकें।

अहिंसा और दीपावली :

दीपावली पर्व भी भारत का एक प्रसिद्ध पर्व है। होलिका के समान दीपावली पर्व भी हमारा एक सामाजिक एवं राष्ट्रीय पर्व है। क्योंकि दीपावली पर्व को भी समाज के सभी व्यक्ति बड़े उल्लास के साथ मनाते हैं। दीपावली पर्व को मनाने वाले व्यक्तियों में, किसी भी प्रकार का वर्ग-भेद और वर्ण-भेद नहीं माना जाता। "दीपावली पर्व को मनाने में हमारा मूल उद्देश्य क्या है ?" यह बहुत ही सुन्दर प्रश्न है, जो मुझसे पूछा गया है। प्रत्येक पर्व का जब विश्लेषण किया जाता है तो उसका मूल स्वरूप उसमें से ही निकल आता है। दीपावली पर्व की पृष्ठभूमि को समझने के लिए, हमें प्राकृतिक दृष्टिकोण से भी इस पर विचार करना चाहिए। बात यह है कि वर्षाकाल में अनेक प्रकार के विषैले

प्राणी पैदा हो जाते हैं। वर्षाकाल में जो नमी और सीलन रहती है, उससे जीवों की उत्पत्ति में अभिवृद्धि हो जाती है। काले-कजरारे बादलों से आकाश घिरा रहता है, जिससे कि सब ओर अंधकार सा छाया रहता है। वर्षाकाल में घर में बहुत-सा कूड़ा-कचरा भी इकट्ठा हो जाता है। अतः घर की स्वच्छता और उज्ज्वलता नष्ट हो जाती है और हमारे चारों ओर एक गन्दा वातावरण फैल जाता है। निरन्तर वर्षा होते रहने के कारण बाहर में कीचड़ और अन्दर में गन्दगी फैल जाती है तथा लगातार आकाश मेघाच्छन्न होने के कारण असंख्य तारकों की नयनाभिराम झिलमिल ज्योति भी दृष्टिगोचर नहीं होती। इस कीचड़, गन्दगी और अन्धकार से मानव मन ऊब-सा जाता है। वर्षाकाल की समाप्ति पर जब आकाश स्वच्छ हो जाता है और बाहर का कीचड़ सूख जाता है, तब घर के अन्दर की गन्दगी को भी बाहर निकालने का प्रयत्न किया जाता है। शारदी पूर्णिमा के उजियाले में जब हम अनन्त नील गगन में असंख्य तारों को जगमग करते देखते हैं और चन्द्र ज्योत्स्ना से समग्र विश्व को दुग्ध-स्नान जैसे उज्ज्वल रूप में देखते हैं, तब मानव-मन उल्लास और आनन्द से भर जाता है। शरद पूर्णिमा से ही लोग अपने घरों की सफाई और पुताई शुरू कर देते हैं और तब यह समझा जाता है कि अब दीपावली पर्व निकट है और उसकी आराधना के लिए तैयारी होने लगती है। इस समय मनुष्य अपने घर और बाहर सबको स्वच्छ और पावन बनाने का प्रयत्न करने लगता है। मनुष्य का उदास मन प्रसन्न हो उठता है, जब कि वह अपने घर के आंगन में दीपकों की माला को जगमग-जगमग करते देखता है। दीपकों की उस ज्योतिर्मय माला से उसके घर का अन्धकार ही दूर नहीं होता, बल्कि प्रांगण का अंधकार भी दूर भाग जाता है। इस पर्व के दिन अन्दर और बाहर प्रकाश छा जाता है। इसी आधार पर इसको प्रकाश पर्व कहा जाता है। अंधकार मानव

मन को उल्लसित नहीं करता, वह उसे उदास बनाता है, पर प्रकाश का स्पर्श पाकर वह अंधकार दूर भाग जाता है और मानव जीवन का कण-कण आलोकित हो उठता है। दीपावली पर्व क्या था ? इसके पीछे हमारा सही दृष्टिकोण क्या था ? उसे आज हम भूल गये हैं। अन्दर और बाहर की स्वच्छता ही इस पर्व का मुख्य उद्देश्य था। गंदगी हिंसा का प्रतीक है और स्वच्छता अहिंसा का प्रतीक है। हम गंदगी को दूर करके हिंसा को दूर करते हैं और स्वच्छता को लाकर हम अहिंसा की आराधना करते हैं। दीपावली पर्व की आराधना भी एक प्रकार से अहिंसा की आराधना है। प्रकाश की आराधना को भारतीय संस्कृति में बड़ा ही महत्वपूर्ण समझा गया है।

अहिंसा और कमल :

भारतीय साहित्य और संस्कृति में प्रकाश की उपासना के बाद कमल को भी बड़ा गौरवपूर्ण स्थान मिला है। जीवन के प्रत्येक पहलू में कमल आकर खड़ा हो गया है। मुख-कमल, कर-कमल, चरण-कमल और हृदय-कमल। भारतीय संस्कृति ने सम्पूर्ण मानव-शरीर को कमलमय बना दिया है। नेत्र को भी कमल कहा गया है। कमल भारतीय संस्कृति में और भारतीय साहित्य में इतना अधिक परिव्याप्त हो चुका है कि उसे जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। साहित्य संस्कृति और जीवन में कमल इतना व्याप्त हो चुका है कि वह हमारे आध्यात्मिक दृष्टिकोण में भी प्रवेश कर गया है। महाश्रमण महावीर ने अपने एक प्रवचन में कहा है कि अध्यात्म-साधक को संसार में इस प्रकार रहना चाहिए, जिस प्रकार सरोवर में कमल रहता है। कमल-जल में रहता है, कीचड़ में पैदा होता है, पर उस कीचड़ अथवा जल से वह लिप्त नहीं होता। संसार में रहते हुए भी संसार के संकल्पों और विकल्पों की माया से विमुक्त रहना, यही

जीवन की सबसे बड़ी कला है । कमल के समान निर्लिप्त रहने वाला व्यक्ति, फिर भले ही वह कहीं पर भी क्यों न रहता हो, उसे किसी प्रकार का भय नहीं रहता । गीता में श्री कृष्ण ने भी यही बात कही है - "अर्जुन ! तुम संसार में उसी प्रकार अनासक्त रहो, जिस प्रकार जल में कमल रहता है ।" इस प्रकार कमल हमारे जीवन में इतना ओत-प्रोत हो चुका है कि जीवन से उसे अलग नहीं किया जा सकता । भारतीय संस्कृति में शरीर को भी कमल कहा गया है और मानव-मन को भी कमल कहा गया है ।

तुम संसार में उसी प्रकार अनासक्त रहो, जिस प्रकार जल में कमल रहता है ।

हमारे प्राचीन साहित्य में पद्मवन और कमलासन जैसे शब्दों का प्रयोग भी उपलब्ध होता है । जीवन में कमल से बहुत कुछ प्रेरणा हमें प्राप्त होती है । यही कारण है कि कमल हमारे जीवन में इतना परिव्याप्त हो चुका है कि उसे जीवन से अलग नहीं किया जा सकता । जो व्यक्ति संसार में कमल बनकर रहता है, उसे किसी प्रकार का परिताप नहीं रहता । कमल की उपासना करने वाला व्यक्ति भी कमल के समान ही स्वच्छ और पावन बन जाता है ।

मैं आपसे कह चुका हूँ कि प्रकाश और कमल भारतीय संस्कृति के दो मुख्य तत्व है । जीवन-पथ को आलोकित करने के लिए प्रकाश की नितान्त आवश्यकता रहती है किन्तु जीवन को सुरभित बनाने के लिए कमल की उससे भी कहीं अधिक आवश्यकता रहती है । कमल के जीवन की सबसे बड़ी और सबसे मुख्य विशेषता है- उसकी मनमोहक सुगंध ।

> ~
> *वस्तुतः वही जीवन धन्य है, जो प्रकाश के समान जगमग करता है और कुसुम के समान सुरभित रहता है।*
> ~

जिस कमल में अथवा जिस कुसुम में सुन्दर सुगंध नहीं होती, उसका जन जीवन में न कुछ महत्व होता है और न गौरव पाता है। कल्पना कीजिए किसी फूल में रूप भी हो सौन्दर्य भी हो पर सुरभि न हो, तो वह जन-मन के लिए ग्राह्य नहीं हो सकता। वस्तुतः वही जीवन धन्य है, जो प्रकाश के समान जगमग करता है और कुसुम के समान सुरभित रहता है।

चार प्रकार के फूल :

भगवान् महावीर ने स्थानांग सूत्र में चार प्रकार के पुष्पों का वर्णन किया है- एक पुष्प वह है, जिसमें रूप व सौन्दर्य तो होता है परन्तु सुरभि नहीं होती। दूसरा पुष्प वह है, जिसमें सुरभि तो होती है पर स्वरूप और सौन्दर्य नहीं रहता। तीसरा पुष्प वह होता है, जिसमें अद्भूत रूप भी होता है और अद्भुत सुरभि भी रहती है। चौथे प्रकार का पुष्प वह है, जिसमें न सौन्दर्य होता है और न सुरभि होती है। उदाहरण के लिए- टेसू फूल को लें, उसमें रूप सौन्दर्य और आकर्षण तो रहता है परन्तु उसमें सुगंध नहीं होती। वकुल पुष्प को लीजिए, उसमें मादक सुगंध का भण्डार भरा रहता है, अपनी सुरभि से वह दूर-दूर के भ्रमरों को आकर्षित करता रहता है और दूरस्थ मनुष्य के मन को भी वह मुग्ध कर लेता है। किन्तु जैसे ही मनुष्य उसके समीप पहुंचता है उसके रूप को देखकर वह मुग्ध नहीं हो पाता। जपा पुष्प को लीजिए, उसमें रूप और सौन्दर्य दोनों का समावेश हो जाता है। गुलाब के फूल

का रूप भी अद्‌भुत होता है, वह देखने वाले के चित्त को आकर्षित करता है और साथ ही उसमें सुगंध भी अपरिमित होती है । चौथा पुष्प आक का है, जिसमें न सुन्दरता है और न सुरभि का निवास । वह न देखने में सुन्दर लगता है और न सुनने में । इस प्रकार का पुष्प जन-मन को कभी ग्राह्य नहीं हो सकता ।

चार प्रकार के मनुष्य :

इसी प्रकार भगवान् महावीर ने मानव-समाज के मनुष्यों का चार भागों में वर्गीकरण किया है । एक मनुष्य वह है, जो श्रुत-सम्पन्न तो है, किन्तु शील-सम्पन्न नहीं है । दूसरा मनुष्य वह है- जो शील-सम्पन्न है, किन्तु श्रुत-सम्पन्न नहीं है । तीसरा मनुष्य वह है- जो श्रुत सम्पन्न भी है और शील-सम्पन्न भी है । चौथे प्रकार का मनुष्य वह है- जो न श्रुत सम्पन्न है और न शील-सम्पन्न ही । मानव समाज का यह वर्गीकरण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया गया है । इसका रहस्य यही है कि मानव-समाज में वही मनुष्य सर्वश्रेष्ठ माना जाता है, जो श्रुत-सम्पन्न भी हो और शील-सम्पन्न भी हो । यदि उसके जीवन में उक्त दोनों तत्वों में से एक भी तत्व का अभाव रहता है तो वह जीवन, आदर्श जीवन नहीं रहता । आदर्श जीवन वही है, जिसमें श्रुत अर्थात् अध्ययन एवं ज्ञान भी हो और साथ ही शील अर्थात् सदाचार भी हो । श्रुत और शील के समन्वय से ही, वस्तुतः मनुष्य का जीवन सुखमय एवं शान्तिमय बनता है । यदि मनुष्य के जीवन में श्रुत का अर्थात् ज्ञान का प्रकाश तो हो किन्तु उसमें शील की सुरभि न हो तो वह जीवन श्रेष्ठ जीवन नहीं कहा जा सकता । इसके विपरीत यदि किसी मनुष्य के जीवन में शील तो हो, शील की सुरभि उसके जीवन में मिलती हो किन्तु उसमें श्रुत एवं ज्ञान का प्रकाश न हो तब भी वह जीवन, अधूरा जीवन कहलाता है । एकांगी

जीवन कहलाता है । जीवन एकांगी नहीं होना चाहिए । भारतीय संस्कृति में एकांगी जीवन को आदर्श जीवन नहीं कहा गया है । अनेकांगी जीवन ही वस्तुतः सच्चा जीवन है । यह अनेकांगता श्रुत एवं शील के समन्वय से ही आ सकती है । ज्ञान और क्रिया तथा विचार और आचार दोनों की परिपूर्णता ही जीवन की संपूर्णता है ।

> *ज्ञान और क्रिया तथा विचार और आचार दोनों की परिपूर्णता ही जीवन की संपूर्णता है।*

धर्म और दर्शन :

भारतीय संस्कृति में विचार और आचार को तथा ज्ञान और क्रिया को जीवन विकास के लिए आवश्यक तत्व माना गया है । दार्शनिक जगत् में एक प्रश्न प्रस्तुत किया जाता है कि धर्म और दर्शन इन दोनों में से जीवन विकास के लिए कौन सा तत्व परम आवश्यक है पाश्चात्य दर्शन में जिसे Religion और Philosophy कहा जाता है । भारतीय परम्परा में उसके लिए प्रायः धर्म और दर्शन का प्रयोग किया जाता है परन्तु मेरे अपने विचार में धर्म शब्द का अर्थ Religion से कहीं अधिक व्यापक एवं गंभीर है, इसी प्रकार दर्शन शब्द का अर्थ Philosophy से कहीं अधिक व्यापक और गंभीर है । पाश्चात्य संस्कृति में धर्म की धारा अलग बहती रही और दर्शन की धारा अलग प्रवाहित होती रही । परन्तु भारतीय संस्कृति में धर्म और दर्शन का यह अलगाव और विलगाव स्वीकृत नहीं है । "भारत का 'धर्म' दर्शन विहीन नहीं हो सकता और भारत का 'दर्शन' धर्म से विलग नहीं हो सकता ।" धर्म और दर्शन के लिए भारतीय संस्कृति में बहुविध और बहुमुखी विचार किया गया है । मानव जीवन को विकसित एवं प्रगतिशील बनाने के लिए श्रद्धा

और तर्क दोनों के समान विकास की आवश्यकता है। श्रद्धा की उपेक्षा करके केवल तर्क के आधार पर भारतीय संस्कृति खड़ी नहीं रह सकती। और तर्क-विहीन श्रद्धा भी भारतीय संस्कृति को प्रेरणा प्रदान नहीं कर सकती। भारतीय संस्कृति के अनुसार श्रद्धा का पर्यवसान तर्क में होता है और तर्क का पर्यवसान श्रद्धा से होता है। यद्यपि धर्म का मुख्य आधार श्रद्धा है और दर्शन का मुख्य आधार तर्क है किन्तु यह सब कुछ होते हुए भी भारतीय संस्कृति में हृदय को बुद्धि बनना पड़ता है और बुद्धि को हृदय बनना पड़ता है। हृदय की प्रत्येक धड़कन में बुद्धि का विमल प्रकाश अपेक्षित रहता है। और बुद्धि की प्रत्येक सूझ में श्रद्धा के संबल की आवश्यकता रहती है यदि श्रद्धा और तर्क में समन्वय स्थापित नहीं किया गया तो इन्सान का दिमाग आकाश में घूमता रहेगा और उसका दिल धरती के खण्डहरों में दब जायेगा। मेरे विचार में मानव जीवन की यह सर्वाधिक विडम्बना होगी।

आचार और विचार :

भारतीय परम्परा में फिर भले ही वह परम्परा वैदिक रही हो अथवा वह अवैदिक। प्रत्येक परम्परा में आचार के साथ विचार, विचार के साथ आचार को मान्यता प्रदान की है। यहाँ तक कि चार्वाक् दर्शन, जो जड़वादी, नास्तिकवादी और नितान्त भौतिकवादी है, उसके भी कुछ आचार के नियम हैं। भले ही उस आचार-पालन का फल वह परलोक या स्वर्ग न मानता हो पर समाज-व्यवस्था के लिए वह भी कुछ नियम तथा आचार स्वीकार करता है। एक बात और है कि प्रत्येक परम्परा का आचार उसके विचार के अनुरूप ही हो सकता है। यह नहीं हो सकता कि विचार का प्रभाव आचार पर न पड़े। साथ में यह भी सत्य है कि आचार का प्रभाव भी विचार पर पड़ता है। यही कारण है कि

भारतीय संस्कृति में, भारतीय परम्परा में और भारतीय समाज में, विचार और आचार में, ज्ञान और क्रिया में, धर्म और दर्शन में समन्वय माना गया है । समन्वय के बिना समाज चल नहीं सकता ।

अहिंसा और अनेकान्त :

आपके सामने अहिंसा की बात चल रही थी । मैंने यह भी बतलाया था कि कृषि-कर्म में हिंसा और अहिंसा को लेकर मध्य युग में किस प्रकार का विवाद चला था, जिसका क्षीण आभास आज भी हमें उस युग के साहित्य में उपलब्ध होता है । विवाद की बात को छोड़कर यदि मूल लक्ष्य पर और मूल बात पर विचार किया जाए, तो निष्कर्ष यही निकलता है कि जैन संस्कृति और जैन परम्परा का मूल आचार अहिंसा ही है । असत्य बोलने में हिंसा होती है, चोरी करने में हिंसा होती है, इसलिए इन सबका परित्याग आवश्यक है । हिंसा के परित्याग के लिए और अहिंसा के संरक्षण के लिए ही अन्य व्रतों की परिकल्पना की गई है । मुख्य व्रत अहिंसा ही है । यही कारण है कि जैन आचार शास्त्र का मुख्य सिद्धान्त अहिंसा है । इसी प्रकार जैन दर्शन का मुख्य विचार अनेकान्त है । आचार में अहिंसा और विचार में अनेकान्त, यह जैन संस्कृति का मूल स्वरूप है । अहिंसा और अनेकान्त का अर्थ है- जैन-धर्म और जैन दर्शन । अहिंसा धर्म है और अनेकान्त दर्शन है । श्रद्धा धर्म है और तर्क दर्शन है । क्रिया धर्म है और ज्ञान दर्शन है । बौद्ध दर्शन के भी दो पक्ष प्रचलित है- हीनयान और महायान । मुख्य रूप से हीनयान आचार पक्ष है और महायान विचार पक्ष है । हीनयान मुख्य रूप में धर्म है और महायान मुख्य रूप में दर्शन एवं तर्क है । सांख्य और योग को लें तो उसमें भी हमें यही तथ्य मिलता है कि सांख्य दर्शन शास्त्र है और योग उसका आचार पक्ष है । यही बात पूर्व मीमांसा और उत्तर

मीमांसा के संबंध में भी समझ लीजिए । पूर्व मीमांसा आचार का प्रतिपादन करती है और उत्तर मीमांसा दर्शन और तर्क का आधार लेकर चलती है ।

मेरे कहने का अभिप्राय उतना ही है कि प्रत्येक परम्परा का अपना एक दर्शन होता है और प्रत्येक परम्परा का अपना आचार भी होता है । इस धरती पर एक भी संप्रदाय ऐसा नहीं मिलेगा, जिसमें विचार के अनुरूप आचार का और आचार के अनुरूप विचार का प्रतिपादन न किया गया हो । भारतीय परम्परा ही नहीं अपितु बाहर की परम्पराओं में भी हमें यही सत्य उपलब्ध होता है । मुस्लिम संस्कृति के उन्नायक मोहम्मद साहब ने भी जीवन के इन्हीं दोनों पक्षों को स्वीकार किया है । बाइबिल में ईसामसीह ने भी विचार के साथ आचार को स्वीकार किया है । चीन के प्रसिद्ध दार्शनिक कन्फ्यूसियस और लाओत्से ने भी अल्पाधिक रूप में विचार के साथ आचार को मान्यता प्रदान की है ।

मानव-जीवन की परिपूर्णता विचार और आचार के समन्वय से ही होती है।

अहिंसा में सभी धर्मों का समावेश हो जाता है।

मैं आपसे यह कह रहा था कि मानव-जीवन की परिपूर्णता विचार और आचार के समन्वय से ही होती है और आचार के बिना विचार का कुछ भी मूल्य नहीं है । इसी प्रकार विचार-विहीन आचार का भी कुछ महत्व नहीं रहता । आचार क्या है ? इस प्रश्न का उत्तर यदि एक ही शब्द में दिया जा सके, तो वह शब्द अहिंसा ही हो सकता है । अहिंसा में सभी धर्मों का समावेश हो जाता है क्योंकि धरती के सभी धर्मों ने सीधे रूप में

अथवा घूम-फिरकर अहिंसा को ही धर्म माना है फिर भले ही किसी ने अहिंसा को प्रेम कहा है, किसी ने अहिंसा को सेवा कहा है, किसी ने अहिंसा को नीति कहा है और किसी ने भ्रातृत्व-भाव कहा है । ये सब अहिंसा के ही विविध विकल्प और नाना रूप है । अहिंसा ही परम धर्म है ।

दिसम्बर, 1966 जैन भवन, लोहामण्डी, आगरा

व्यवस्था चाहे व्यक्तिवादी हो या समाजवादी, उसका मूल उद्देश्य एक ही है- व्यक्ति और समाज का विकास । व्यक्तिवादी व्यवस्था में समाज का तिरस्कार नहीं हो सकता और समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति की सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता । समाज का विकास व्यक्ति पर आश्रित है, तो व्यक्ति का विकास भी समाज पर आधारित रहता है । दोनों एक-दूसरे के विकास में परम सहयोगी तथा सहकारी हैं तथा अपने आप में दोनों बड़े हैं ।

व्यक्ति से समाज और समाज से व्यक्ति

यह एक प्रश्न है कि व्यक्ति बड़ा है अथवा समाज बड़ा है ? व्यक्ति का आधार समाज है अथवा समाज का आधार व्यक्ति है ? कुछ चिंतक यह कहते हैं कि व्यक्ति बड़ा है, क्योंकि समाज की रचना व्यक्तियों के समूह से ही होती है । कुछ विचारक यह कहते हैं कि समाज बड़ा है, क्योंकि समाज में समाहित होकर व्यक्ति का व्यक्तित्व कहीं अलग रहता है ? जब बिन्दु सिन्धु में मिल गया, तब वह बिन्दु न होकर सिन्धु ही बन जाता है । यही स्थिति व्यक्ति और समाज की है, व्यष्टि और समष्टि की है तथा एक और अनेक की है । मेरे विचार में, अकेला व्यक्तिवाद और अकेला समाजवाद समस्या का समाधान नहीं हो सकता ।

किसी अपेक्षा से व्यक्ति बड़ा है, किसी अपेक्षा से समाज भी बड़ा है । व्यक्ति इस अर्थ में बड़ा है, क्योंकि वह समाज-रचना का मूल आधार है और समाज इस अर्थ में बड़ा है कि वह व्यक्ति का आश्रय है । यदि स्थिति पर गम्भीरता से विचार किया जाए, तो हमें प्रतीत होगा कि अपने-अपने स्थान पर और अपनी-अपनी स्थिति में दोनों का महत्व है । न कोई छोटा है और न कोई बड़ा है । यदि विश्व में व्यक्ति का व्यक्तित्व न होता, तो फिर परिवार, समाज और राष्ट्र का अस्तित्व भी कैसे होता ?

समाजवाद :

किसी राष्ट्र का मूल्य उसके व्यक्तियों का मूल्य है, जिनसे वह बना है । यही बात समाज के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है, किसी भी समाज का मूल्य उसके व्यक्तियों का मूल्य है, जिससे वह बना है । यही बात परिवार के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है । व्यक्ति भले ही अपने आप में हो, किन्तु परिवार की दृष्टि से वह एक होकर भी वस्तुतः अनेक होता है । अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अपने आश्रयी समाज का एक आश्रय है, तब उसका अलग अस्तित्व किस आधार पर संभव हो सकता है । वही आधार है, व्यक्ति का अपना व्यक्तित्व । प्रत्येक व्यक्ति का अपना एक व्यक्तित्व होता है, जिसके आधार पर वह अनेक में रहकर भी एक होता है । व्यक्ति का व्यक्तित्व पुष्प के सुगंध के समान होता है । जिस प्रकार देखने वाले को फूल ही दिखलाई पड़ता है । उसकी सुगंध दृष्टि-गोचर नहीं होती है । परन्तु प्रत्येक पुष्प की सुगंध की अनुभूति अवश्य ही होती है । इसी प्रकार हमें प्रतीति होती है- व्यक्ति की । जहाँ व्यक्ति है, वहाँ उसका व्यक्तित्व फूल की सुगंध के समान सदा उसमें रहता है । व्यक्ति के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में बहुत कहा जा सकता है, किन्तु यहाँ पर केवल इतना ही समझना है कि व्यक्ति और समाज दोनों अलग-अलग नहीं रह सकते ।

व्यक्ति का व्यक्तित्व पुष्प के सुगंध के समान होता है।

व्यक्ति और समाज :

समाज और व्यक्ति का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । आजकल विभिन्न विचारकों में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध को लेकर बड़ा

> व्यक्ति आते हैं और चले जाते हैं, समाज सदैव रहता है, समाज ही व्यक्ति को सुसंस्कृत एवं सुसभ्य बनाता है।

मत-भेद खड़ा हो गया है, परन्तु यह बात सब मानते हैं कि व्यक्ति और समाज में किसी भी प्रकार का अलगाव और विलगाव करना न समाज के हित में है और न स्वयं व्यक्ति के हित में है। वास्तव में समाज की कल्पना व्यक्ति के पहले आती है। क्योंकि व्यक्ति कहते ही हमें यह परिज्ञान हो जाता है कि यह अवश्य किसी भी समूह एवं समुदाय से सम्बद्ध होगा। व्यक्ति आते हैं और चले जाते हैं, समाज सदैव रहता है। उसका जीवन व्यक्ति से बहुत अधिक दीर्घकालीन रहता है। समाज ही व्यक्ति को सुसंस्कृत एवं सुसभ्य बनाता है। एक बालक का व्यक्तित्व बहुत कुछ उसके सामाजिक वातावरण पर निर्भर रहता है, वह प्रत्येक बात, फिर भले ही वह अच्छी हो अथवा बुरी, अपने समाज से ही सीखता है। केवल सीखने की शक्ति उसकी अपनी होती है। समाज में ही उसके अहं का विकास होता है, जिससे वह मनुष्य कहलाता है। समाज का एक अपना निजी संगठन है, वह व्यक्ति पर बहुत तरह से नियंत्रण रखता है। उसका अपना निजी अस्तित्व और आकार है। परन्तु दूसरी ओर यह भी सत्य है कि व्यक्तियों की अनुपस्थिति में समाज का कोई अस्तित्व नहीं रहता। क्योंकि व्यक्तियों से ही समाज बनता है। व्यक्ति समाज को प्रभावित करता है। इस प्रकार समाज और व्यक्ति दो स्वतंत्र प्रतीत होते हुए भी, दोनों का अस्तित्व और विकास एक दूसरे पर निर्भर रहता है, न व्यक्ति समाज को छोड़ सकता है और न समाज व्यक्ति को छोड़ सकता है।

"समाज को समझना उतना अधिक दुस्साध्य कार्य नहीं है,

जितना किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को समझना ।" व्यक्ति के व्यक्तित्व को समझने के लिए यह आवश्यक है कि हम उसकी मनोवैज्ञानिक पृष्ठ भूमि को समझने का प्रयत्न करें ।

मनोविज्ञान के परिशीलन एवं अनुचिन्तन से परिज्ञात होता है कि व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं- अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी । अन्तर्मुखी व्यक्ति वह होता है, जो परिवार और समाज में घुल-मिलकर रहता है । व्यक्ति में यह परिवर्तन कैसे आता है ? इसका आधार है, उस व्यक्ति का व्यक्तित्व । व्यक्तित्व ही व्यक्ति के व्यवहार का समग्र आधार है । यदि किसी व्यक्ति में अकेलापन है, तो अवश्य ही उसके व्यक्तित्व में अकेलेपन के संस्कार रहे होंगे । बहिर्मुखी व्यक्ति अपने में केन्द्रित न रहकर, वह सभी के साथ घुल-मिल जाता है । किन्तु अन्तर्मुखी व्यक्ति समाज के वातावरण में रहकर भी समाज से अलग-थलग सा रहता है ।

व्यक्ति का वह पक्ष जो सामाजिक मान्यताओं से सम्बन्ध रखता है, जिसका सामाजिक जीवन में महत्व है, उसे हम चरित्र की संज्ञा देते हैं । सामाजिक जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए चरित्र का उच्च होना आवश्यक है । यदि व्यक्ति अपने चरित्र को सुन्दर नहीं बना पाता है तो उसका समाज में टिक कर रहना भी सम्भव नहीं है । व्यक्ति जब दूसरों के साथ किसी भी प्रकार का अच्छा या बुरा व्यवहार करता है, तभी हमें उसके व्यक्तित्व के सम्बन्ध में परिज्ञान हो जाता है । सामाजिक वातावरण ही व्यक्ति के व्यक्तित्व की कसौटी है ।

सामाजिक जीवन को सुचारु रूप से चलाने के लिए चरित्र का उच्च होना आवश्यक है।

व्यक्तिवाद :

मैं आपसे यह कह रहा था कि व्यक्ति का अपने आप में महत्व अवश्य है, किन्तु वह समाज को तिरस्कृत करके जीवित नहीं रह सकता । यह ठीक है कि व्यक्तिवाद समाज को व्यक्तियों का समूह मानता है, किन्तु फिर भी व्यक्तिवाद में समाज दब जाता है और व्यक्ति उभर आता है । व्यक्तिवाद के मुख्य सिद्धांतों में व्यक्तियों की स्वतंत्रता एक मुख्य प्रश्न है । व्यक्ति के लिए स्वतंत्रता ही सबसे महान् वस्तु है । स्वतंत्रता के बिना मनुष्य का विकास नहीं हो सकता, राजनैतिक सिद्धांत के अनुसार राज्य और समाज का निर्माण ही व्यक्तियों की स्वतंत्रता की रक्षा के लिए हुआ है । व्यक्ति की स्वतंत्रता को राज्य समग्रता से नियंत्रित नहीं कर सकता । राज्य द्वारा व्यक्ति की स्वतंत्रता का नियंत्रण तभी होगा, जब व्यक्ति अपने कार्यों से दूसरे के कार्यों में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करेगा । व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए राज्य केवल रक्षात्मक कार्य कर सकता है । परन्तु व्यक्तियों की विभिन्न स्वतंत्र शक्तियों के विकास में हस्तक्षेप करने का अधिकार राज्य को भी नहीं है और जब यह अधिकार राज्य को नहीं है, तब समाज को कैसे हो सकता है ? राजनैतिक दृष्टि से यही व्यक्ति का व्यक्तित्ववाद है ।

मैं आपसे व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में कुछ कह रहा था । मैंने आपको बताया कि समाज-शास्त्र, मनोविज्ञान और राजनीति-शास्त्र की दृष्टि से समाज और राष्ट्र में व्यक्ति का क्या स्थान है ? व्यक्ति

> *व्यक्ति चाहे परिवार में रहे, चाहे समाज में रहे और चाहे राष्ट्र में रहे, सर्वत्र उसकी एक ही मांग है- अपनी स्वतंत्रता, अपनी स्वाधीनता।*

> *व्यक्ति की स्वाधीनता और स्वतंत्रता के नाम पर समाज के कर्त्तव्यों की तथा मर्यादाओं की बलि नहीं चढ़ाई जा सकती।*

चाहे परिवार में रहे, चाहे समाज में रहे और चाहे राष्ट्र में रहे, सर्वत्र उसकी एक ही मांग है, अपनी स्वतंत्रता और अपनी स्वाधीनता। पर सवाल यह है कि इस स्वतंत्रता और स्वाधीनता की कुछ सीमा भी है, अथवा नहीं ? यदि उसकी सीमा का अंकन नहीं किया जाता है तो व्यक्ति स्वच्छन्द होकर तानाशाह बन जाता है। उस स्थिति में समाज और राष्ट्र की सुरक्षा और व्यवस्था कैसे रह सकती है ? इसका अर्थ यह नहीं है कि मैं व्यक्ति के व्यक्तित्व पर किसी प्रकार का बंधन लगाना चाहता हूँ। मेरा अभिप्राय इतना ही है कि व्यक्ति की स्वाधीनता और स्वतंत्रता रखते हुए भी यह अवश्य करना होगा कि व्यक्ति स्वच्छन्द न बन जाए। दूसरी ओर समाज बिखर जाता है, तो फिर व्यक्ति की स्वतंत्रता और स्वाधीनता का मूल्य भी क्या रहेगा ? राष्ट्र और समाज की रक्षा और व्यवस्था में ही व्यक्ति के जीवन की रक्षा और व्यवस्था है। इस संदर्भ में यह जानना भी परमावश्यक हो जाता है कि व्यक्ति के जीवन में समाज और समाज की मर्यादाओं का क्या मूल्य है ? व्यक्ति की स्वाधीनता और स्वतंत्रता के नाम पर समाज के कर्त्तव्यों की तथा मर्यादाओं की बलि नहीं चढ़ाई जा सकती।

समाज और संघ :

भारतीय संस्कृति में और भारत की इतिहास-परम्पराओं में अधिकतर व्यक्ति और समाज में समन्वय का ही समर्थन किया गया है। भगवान् महावीर ने तथा भगवान् बुद्ध ने अवश्य ही व्यक्ति की

अपेक्षा संघ को अधिक गौरव प्रदान किया है । यहाँ तक कि जैन संस्कृति में सर्वोच्च सत्ता माने जाने वाले तीर्थंकर भी तीर्थ एवं संघ को नमस्कार करते हैं । महान् से महान् आचार्य भी यहाँ पर संघ के आदेश को मानने के लिए बाध्य होता है । यद्यपि जैन धर्म के सिद्धान्त के अनुसार संघ की रचना एक व्यक्ति ही करता है, और वह व्यक्ति है- तीर्थंकर । फिर भी संघ को, तीर्थ को और समाज को जो इतना अधिक गौरव प्रदान किया गया है, उसके पीछे एक ही उद्देश्य है कि संघ और समाज की रक्षा तथा व्यवस्था में ही व्यक्ति का विकास निहित है । पहले संघ और फिर व्यक्ति ।

जैन संस्कृति की संघ-रचना में और उसके संविधान में गृहस्थ और साधु को समान अधिकार की उपलब्धि है । जैन-संस्कृति में संघ के चार अंग माने गए हैं- श्रमण, श्रमणी, श्रावक और श्राविका । इन चारों का समवेत रूप ही संघ है । आध्यात्मिक दृष्टि से जो अधिकार एक श्रमण को प्राप्त है, वही अधिकार श्रमणी को भी प्राप्त है । जो अधिकार एक श्रावक को है, उतना ही अधिकार एक श्राविका को भी है । यदि जैन इतिहास की दीर्घ परम्परा पर और उसकी विशिष्ट संघ रचना पर विचार किया जाए तो यह परिज्ञात होगा कि जैन-संस्कृति मूल में व्यक्तिवादी न होकर समाजवादी है । किन्तु उसका समाजवाद आर्थिक और राजनैतिक न होकर एक आध्यात्मिक समाजवाद है । वह एक सर्वोदयी समाजवाद है, जिसमें सभी के उदय को समान भाव से स्वीकार किया गया है । यहाँ

संघ और समाज की रक्षा तथा व्यवस्था में ही व्यक्ति का विकास निहित है। पहले संघ और फिर व्यक्ति।

एक के उत्थान में सबका उत्थान है, और एक के पतन में सबका पतन है।

पर एक के पतन पर दूसरे का उत्थान नहीं है और यहाँ पर एक के विनाश पर दूसरे का विकास नहीं है, बल्कि एक के उत्थान में सबका उत्थान है और एक के पतन में सबका पतन है तथा एक के विनाश में सबका विनाश है और एक के विकास में सबका विकास है। इस प्रकार जैन-संस्कृति का समाजवाद एक आध्यात्मिक समाजवाद है।

वैदिक परम्परा में और वैदिक संस्कृति के इतिहास में यह बताया गया है कि विश्व में व्यक्ति ही सब कुछ है, समाज तो एक व्यक्ति के पीछे खड़ा है। वह व्यक्ति भले ही ईश्वर हो, परब्रह्म हो अथवा विष्णु, ब्रह्मा और रूद्र हो, कोई भी हो, एक व्यक्ति के संकेत पर ही वहाँ सारा विश्व खड़ा होता है। व्यक्तिवाद को इतनी स्वतंत्रता देने का एकमात्र कारण यह है कि वैदिक संस्कृति के मूल में सम्पूर्ण विश्व में एक ही सत्ता है- परब्रह्म। उसी में से संसार का जन्म होता है और फिर उसी में सम्पूर्ण संसार का विलय हो जाता है। संसार बने अथवा बिगड़े किन्तु ब्रह्म की सत्ता में किसी प्रकार की गड़बड़ी पैदा नहीं होती। इससे यह परिज्ञात होता है कि वैदिक परम्परा मूल में व्यक्तिवादी है, समाजवादी नहीं। पुराण-काल में हम देखते हैं कि कभी ब्रह्मा, विष्णु और महेश सभी ओझल हो गए। जो जिस समय शक्ति में आया, लोग उसी के पीछे चलने लगे और लोगों ने अपने संरक्षण के लिए उसी का नेतृत्व स्वीकार कर लिया। क्या वेद में, क्या उपनिषद् और पुराण में सर्वत्र हमें व्यक्तिवाद ही नजर आता है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने यहाँ तक कह दिया कि **सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणं व्रज ।**- "सब कुछ

छोड़कर हे अर्जुन ! तू मेरी शरण में आ जा ।" अर्थात् मेरा विचार ही तेरा विचार हो, मेरी वाणी ही तेरी वाणी हो और मेरा कर्म ही तेरा कर्म हो । इससे बढ़कर और इससे प्रबलतर व्यक्तिवाद का अन्य उदाहरण नहीं हो सकता ।

दोनों का समन्वय :

मैं आपसे व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध में कह रहा था । समाजवादी और व्यक्तिवादी दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं के मूल उद्देश्य में किसी प्रकार का भेद नहीं है । व्यवस्था चाहे व्यक्तिवादी या समाजवादी हो, उसका मूल उद्देश्य एक ही है- व्यक्ति और समाज का विकास । व्यक्तिवादी व्यवस्था में समाज का तिरस्कार नहीं हो सकता और समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति की सत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता । समाज का विकास व्यक्ति पर आश्रित है, तो व्यक्ति का विकास भी समाज पर आधारित रहता है । व्यक्ति समाज को समर्पण करता है और समाज व्यक्ति को प्रदान करता है । व्यक्ति और समाज का यह आदान और प्रदान ही, उनके एक-दूसरे के विकास में सहयोगी और सहकारी है । अपने आप में दोनों बड़े हैं । दोनों एक दूसरे पर आश्रित रहकर ही जीवित रह सकते हैं । यदि व्यक्ति समाज की उपेक्षा करके चले तो सुव्यवस्था नहीं रह सकती । और समाज व्यक्ति को ठुकराये तो वह समाज भी तनकर खड़ा नहीं रह सकता ।

> *व्यक्ति समाज को समर्पण करता है और समाज व्यक्ति को प्रदान करता है।*

आज के युग में व्यक्तिवाद और समाजवाद की बहुत अधिक

> एक को अनेक बनना होगा और अनेक को एक बनना होगा।

चर्चा है । कुछ लोग व्यक्तिवाद को पसन्द करते हैं तो कुछ समाजवाद को । मेरे विचार में व्यक्तिवादी समाज और समाजवादी व्यक्ति ही अधिक उपयुक्त है । हमें एकांतवाद के झमेले में न पड़कर अनेकांतवाद की दृष्टि से इस विषय को सोचने और समझने का प्रयत्न करना चाहिए । अनेकान्तवादी दृष्टिकोण ही सही दिशा का निर्देश कर सकता है । अनेकान्तवादी दृष्टिकोण से यदि हम समाज और व्यक्ति के सम्बन्धों पर विचार करेंगे, तो हमें एक नया ही प्रकाश मिलेगा । अनेकान्तवादी दृष्टिकोण में समष्टि और व्यष्टि परस्पर एक-दूसरे से सम्बद्ध है । समष्टि क्या है ? अनेकता में एकता । और व्यष्टि क्या है ? एकता में अनेकता । एक को अनेक बनना होगा और अनेक को एक बनना होगा । इस प्रकार की समतामयी और अनेकान्तमयी दृष्टि से ही हमारे समाज और हमारे राष्ट्र का कल्याण हो सकेगा ।

जून 1968
आगरा

जैन भवन, मोती कटरा,

मेरे विचार में सबसे सुखी समाज वह है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति परस्पर हार्दिक सम्मान की भावना रखता है और दूसरे के जीवन का समादर करता है । याद रखिए, समाज के विकास में ही आपका अपना विकास है । और समाज के पतन में अपका अपना पतन है । समाज का विकास करना यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है । जब तक व्यक्ति में सामाजिक भावना का उदय नहीं होता है, तब तक वह अपने आप को बलवान नहीं बना सकता । एक बिंदु जल का क्या कोई अस्तित्व रहता है ? किन्तु वही बिन्दु जब सिंधु में मिल जाता है तब क्षुद्र से विराट् हो जाता है । इसी प्रकार क्षुद्र व्यक्ति समाज में मिलकर विराट् बन जाता है ।

सर्वोदय और समाज

'समाज और समज' ये दोनों शब्द संस्कृत भाषा के हैं । दोनों का अर्थ है- समूह एवं समुदाय । समाज, मानव-समुदाय के लिए प्रयुक्त किया जाता है और समज शब्द का प्रयोग पशु समुदाय के लिए किया जाता है । समाजीकरण, मानव-जीवन का परमावश्यक सिद्धान्त है । समाज, सामाजिकता और सामाजिक- इन तीन शब्दों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है । जिस व्यक्ति में सामाजिक भावना होती है, उसे सामाजिक कहा जाता है । और सामाजिकता है- उसका धर्म । जिस मनुष्य में, समाज में रहकर भी सामाजिकता नहीं आती, समाजशास्त्र की दृष्टि से उसे मनुष्य कहने में संकोच होता है । मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, यह एक सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त का मर्म है कि मनुष्य समाज के बिना जीवित नहीं रह सकता । समाजशास्त्री यह कहते हैं कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, तो इसका अर्थ यह नहीं है कि वह एक सुन्दर, गुणी अथवा सुसंस्कृत व्यक्ति है । व्यक्ति इसी अर्थ में सामाजिक हो सकता है कि उसे मानव सम्पर्क और मानव संगति की इच्छा और आवश्यकता दोनों ही है । एक व्यक्ति किसी परिस्थिति विशेष में भले ही एक दो दिन एकान्त में व्यतीत कर ले, परन्तु सदा-सदा के लिए वह समाज का परित्याग करके जीवित नहीं रह सकता । मनुष्य में यह सामाजिकता उसके जन्म के साथ ही उत्पन्न होती है । और केवल मरण के साथ ही परि-समाप्त होती है । मेरे कहने का अभिप्राय केवल यही है कि मनुष्य

समाज का एक आवश्यक अंग है, और समाज है अंगी । अंग अपने अंगी के बिना कैसे रह सकता है ?

बोगार्डस ने कहा है कि साथ काम करने, सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित करने और दूसरों के कल्याण की आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर कार्य करने की प्रक्रिया को समाजीकरण कहते हैं । प्रत्येक व्यक्ति एक स्वार्थी और खुदपसन्द के रूप में जीवन प्रारम्भ करता है, परन्तु आगे चल कर धीरे-धीरे उसकी सामाजिक चेतना और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना विकसित होती है । समाजशास्त्र के सिद्धान्तों के अनुसार जीवन के प्रारम्भिक वर्षों में संकुचित, अहंकारी और स्वार्थी इच्छायें प्रबल रहती हैं । यहाँ तक कि कुछ घटनाओं में वे जीवन-पर्यन्त भी स्थायी रह सकती हैं । वास्तव में उसकी जन्मजात एवं आन्तरिक शक्ति इतनी प्रबल होती है कि मनुष्य का सारा जीवन उसको नियंत्रित करने और उसका समाजीकरण करने में व्यतीत हो जाता है ।

समाजशास्त्र के प्रसिद्ध पंडित फिचटर के अनुसार समाज में समाजीकरण एक व्यक्ति और उसके साथी मनुष्यों के बीच, एक-दूसरे को प्रभावित करने की प्रक्रिया है । यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके फलस्वरूप सामाजिक व्यवहार के विभिन्न ढ़ंग स्वीकार किये जाते हैं और उसके साथ सामंजस्य किया जाता है । समाज शास्त्र में समाजीकरण की व्याख्या दो दृष्टिकोणों से की जाती है- वैषयिक दृष्टि से, जिसमें समाज व्यक्ति पर प्रभाव डालता है, और प्रातीतिक दृष्टि से, जिसमें व्यक्ति समाज के प्रति प्रतिक्रिया करता है । वैषयिक दृष्टि से समाजीकरण एक वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा समाज अपनी संस्कृति को एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित करता है और संगठित सामाजिक जीवन के स्वीकृत और अनुमोदन प्राप्त ढ़ंगों के साथ व्यक्ति का सामंजस्य करता

है । इस प्रकार समाजीकरण का कार्य व्यक्ति के उन गुणों, कुशलताओं, और अनुशासन को विकसित करना है, जिनकी व्यक्ति को आवश्यकता होती है, उन आकांक्षाओं और मूल्यों तथा रहने के ढ़ंगों को व्यक्ति में समाविष्ट और उत्तेजित करना है, जो किसी विशेष समाज की विशेषता है और विशेषकर उन सामाजिक कार्यों को सिखाना है, जो समाज में रहने वाले व्यक्तियों को करना है । समाजीकरण की प्रक्रिया निरन्तर रूप से व्यक्ति पर बाहर से प्रभाव डालती रहती है । यह केवल बच्चों और देशांतर में रहने वालों को, जो पहली बार समाज में आते हैं, केवल उन्हें ही प्रभावित नहीं करती, बल्कि समाज के प्रत्येक सदस्य को, जीवन पर्यन्त प्रभावित करती है । समाजीकरण की प्रक्रिया उनको व्यवहार के वे ढ़ंग प्रदान करती है, जो समाज और संस्कृति को बनाये रखने के लिए आवश्यक है ।

व्यक्ति का समाजीकरण :

प्रातीतिक दृष्टि से समाजीकरण एक वह प्रक्रिया है, जो समाज के अन्दर चलती रहती है । यह समाजीकरण की प्रक्रिया उस समय होती है, जब कि वह अपने चारों ओर व्यक्तियों के साथ सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न करता है । समाज में रहने वाला व्यक्ति अल्प व अधिक रूप में उस समाज के शील, स्वभाव और आदतों को ग्रहण कर लेता है, जिसमें वह रहता है । प्रत्येक व्यक्ति अपने शैशव-अवस्था से ही धीरे-धीरे समाज के नियमों के अनुकूल चलने लगता है । देशान्तर में रहने वाला व्यक्ति, वहाँ के अपने नये समाज में घुल-मिल जाता है । समाजीकरण की यह प्रक्रिया व्यक्ति में आजीवन चलती है । वह जहाँ-जहाँ भी जाता है, जहाँ-जहाँ भी रहता है, वहाँ-वहाँ के समाज के संस्कारों को ग्रहण कर लेता है । हम किसी भी एक व्यक्ति के जीवन

में जो कुछ अच्छापन अथवा बुरापन देखते हैं, वह सब कुछ उसका अपना नहीं है, उसमें से बहुत कुछ उस समाज से उसने ग्रहण किया है, जिसमें वह रह रहा होता है । जीवन जीने की पद्धति जो उसने सीखी है, विचार जो उसके पास है, अच्छे अथवा बुरे संस्कार जो वह संग्रह कर पाया है, वे सब अमुक अंश में बाहर से ही उसे प्राप्त हुए हैं । एक प्रकार से यह समाजीकरण की प्रक्रिया के ही परिणाम एवं फल हैं । व्यक्ति नयी समस्याओं का सामना करता है और वर्तमान घटनाओं को पिछले अनुभवों की सहायता से समझता है । एक अर्थ में वह सामाजिक अनुरूप की उस मात्रा के अनुसार सोचता है और कार्य करता है, जो उसने प्राप्त की है ।

समाजीकरण की प्रक्रिया का सार यह है कि व्यक्ति जो कुछ सीखता है, वह समाज के साथ सम्बन्ध स्थापित करके ही सीखता है । इसका अर्थ यह नहीं है कि वह व्यक्तिगत रूप में कुछ नहीं सीखता । व्यक्तिगत रूप में भी वह अनेक बातें और अनेक आदतें सीख लेता है । परन्तु अधिकतर वह जो कुछ सीख पाता है, उसमें प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में समाज का सम्पर्क ही मुख्य कारण है । समाज में रहकर वह जो कुछ ग्रहण कर पाता है अथवा ग्रहण कर सकता है, उस ग्रहण में मूल शक्ति स्वयं उस व्यक्ति की ही होती है । ग्रहण करने की मूल शक्ति के अभाव में व्यक्ति कुछ ग्रहण नहीं कर सकता अथवा बहुत कम ग्रहण कर पाता है । समाजीकरण की प्रक्रिया सदा एक जैसी नहीं चलती । उदाहरण के लिए किसी एक व्यक्ति का कुछ समूहों के प्रति समाजीकरण हो सकता है, परन्तु दूसरे समाजों के प्रति नहीं । वह एक दयाशील पति एवं पिता हो सकता है, परन्तु अपने नौकरों अथवा अपने अधीन रहने वाले अन्य लोगों के प्रति व्यवहार में वह समाज-विरोधी भी

हो सकता है । दूसरी ओर कुछ व्यक्ति अपने परिवार के सदस्यों अथवा कुछ पड़ौसियों के प्रति अन्यायी और स्वेच्छाचारी हो सकते हैं, परन्तु साथ ही अपने ग्राहकों के प्रति वे सद्व्यवहार रख सकते हैं । एक अर्थ में समाजीकरण सामाजिक क्रियाओं में भाग लेना है । समाज की क्रियाओं में व्यक्ति भाग तभी ले सकता है, जबकि उसमें सामाजिकता का विकास हो चुका हो । सामाजिकता का अर्थ है- "अनेकता में एकता स्थापित करना ।" समाज में जितने भी प्रकार के व्यक्ति रहते हैं, समान हित के कारण उनके साथ एकीकरण करना ही वस्तुतः समाज में रहने वाले व्यक्ति की सामाजिकता कही जाती है ।

समाज-शास्त्र :

मैं आपसे समाज और समाजीकरण के सम्बन्ध में कह रहा था । समाजशास्त्र का अध्ययन करने वाले व्यक्ति, भली-भांति इस बात को समझते हैं कि समाजीकरण का जीवन में क्या महत्व है ? मेरे अपने विचार में, जो व्यक्ति अपना समाजीकरण नहीं कर सकता, उसका जीवन उसके लिए भारभूत बन जाता है । अपने स्वयं के व्यक्तित्व को समाज के सामूहिक जीवन के अंदर विलीन कर देना ही, मेरे विचार में सच्चा समाजीकरण है । समाजीकरण की प्रक्रिया युग-भेद से अथवा परिस्थिति के कारण विभिन्न हो सकती है, किन्तु जीवन-विकास के लिए समाजीकरण प्रत्येक युग में उपादेय रहा है । और भविष्य में भी उपादेय रहेगा । यदि व्यक्ति अपने अहंकार में रहे और वह अपने आप को समाज के

स्वयं के व्यक्तित्व को समाज के सामूहिक जीवन के अंदर विलीन कर देना ही, मेरे विचार में सच्चा समाजीकरण है।

जीवन में विलीन न करें तो वह जीवित कैसे रह सकता है ? सामाजिक मनोवृत्ति वाला व्यक्ति उस व्यापार को नहीं करेगा, जिससे समाज को किसी प्रकार का लाभ न हो, जिस व्यक्ति ने अपना समाजीकरण कर लिया है, वह व्यक्ति अपने व्यक्तिगत लाभ की अपेक्षा समाज के लाभ को अधिक महत्व देता है, वह व्यक्ति अपने व्यक्तिगत सुख की अपेक्षा सामाजिक सुख को अधिक महत्व देता है, वह व्यक्ति यथावसर अपने व्यक्तिगत स्वार्थों को ठुकरा देता है और प्रत्येक स्थिति में समाज के हित का ध्यान रखता है । जब तक व्यक्ति में सर्वोच्च रूप में सामाजिक भावना का उदय नहीं हो पाता है, तब तक वह अपने व्यक्तित्व का समाजीकरण नहीं कर सकता ।

प्रश्न उठता है कि समाजीकरण के साधन क्या है ? समाजीकरण यदि प्रत्येक व्यक्ति के लिए साध्य मान लिया जाय तो यह जानना भी परमावश्यक है कि उसके साधन क्या है ? सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि मुख्य रूप में व्यक्ति की सामाजिक भावना ही समाजीकरण का प्रधान साधन है । एक विद्वान् का कथन है कि "सम्पूर्ण समाज ही समाजीकरण का साधन है और प्रत्येक व्यक्ति जिसके सम्पर्क में आता है, किसी न किसी रूप में समाजीकरण का साधन अथवा प्रतिनिधि है ।" विशाल समाज और व्यक्ति के बीच में अनेक छोटे-छोटे समूह होते हैं और वे व्यक्ति के समाजीकरण के मुख्य साधन हैं । उदाहरण के लिए- एक नवजात शिशु के समाजीकरण की प्रक्रिया उसके अपने घर से ही प्रारम्भ होती है, परन्तु जैसे-जैसे वह विकसित होता जाता है और जैसे-जैसे उसके जीवन के साथ अन्य समूहों का संबंध होता जाता है, वैसे-वैसे वह तीव्र गति से समाजीकरण करता जाता है । शिशु का सर्वप्रथम परिचय उसका अपनी माता से होता है, फिर पिता से, फिर

भाई-बहिनों से तथा बाद में परिजन और पौरजनों से। वहीं व्यक्ति आगे चलकर नगर से, प्रान्त से, और एक दिन अपने सम्पूर्ण देश से समाजीकरण कर लेता है। अब किसी अन्य देश की सेना हमारे देश पर आक्रमण करती है और हमारे देश की व्यवस्था को छिन्न-भिन्न करने पर उतर आती है, तब देश में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति का सामाजिक एवं राष्ट्र स्वाभिमान जागृत हो जाता है और वह अपनी पूर्ण शक्ति से अपने देशवासियों के साथ मिलकर, उस आक्रांता का विरोध करता है और उसे पराजित करने के लिए अपना सर्वस्व देश के लिए निछावर कर डालता है। व्यक्ति के समाजीकरण का यह एक सर्वोच्च रूप है। भले ही हमारे देश में अनेक जाति, अनेक वर्ग, अनेक सम्प्रदाय हों किन्तु विशाल समाजीकरण के द्वारा उस अनेकता में हम एकता स्थापित कर लेते हैं, क्योंकि देश की रक्षा और व्यवस्था में हम सबका समान हित है। कभी-कभी यह भी देखने में आता है, एक देश के दो वर्ग वर्षों से लड़ते चले आ रहे हैं। परन्तु जब देश पर संकट आता है तब सब अपना विरोध भूलकर एक हो जाते हैं। यह सब क्यों होता है ? समाजीकरण के कारण ही। समाजीकरण की प्रक्रिया व्यक्ति के जीवन में जैसे-जैसे विकास पाती जाती है, वैसे-वैसे उसका जीवन वैयक्तिक से सामाजिक बनता जाता है। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है कि समाजीकरण का मूल तत्व व्यक्ति के अंदर रहने वाली सामाजिक भावना एवं समान हित की भावना ही है।

भले ही हमारे देश में अनेक जाति, वर्ग, सम्प्रदाय हों किन्तु विशाल समाजीकरण के द्वारा उस अनेकता में हम एकता स्थापित कर लेते हैं, क्योंकि देश की रक्षा-व्यवस्था में ही हम सबका समान हित है।

विशेषीकरण में बाधा :

जिस प्रकार समाजीकरण के साधन होते हैं, उसी प्रकार समाजीकरण में कुछ बाधाएँ भी उपस्थित होती रहती हैं । जब समाजीकरण में किसी भी प्रकार की बाधा उपस्थित हो जाती है, तब उस व्यक्ति का समाजीकरण नहीं हो पाता । एक व्यक्ति भले ही कितना भी महत्वाकांक्षी, कितना भी अधिक बुद्धिमान और कितना भी अधिक चतुर क्यों न हो, समय और परिस्थिति से बाध्य होकर जब वह अपना समाजीकरण नहीं कर पाता, तब वह समाज के और उसकी संस्कृति के उदात्त गुणों को ग्रहण करने में असमर्थ हो जाता है । इस प्रकार का व्यक्ति समाज के किसी भी क्षेत्र में अपना विशेषीकरण नहीं कर पाता । जीवन की सफलता और समृद्धि के लिए यह परमावश्यक है कि व्यक्ति के जीवन का किसी भी क्षेत्र में विशेषीकरण होना चाहिए । विशेषीकरण एक ऐसी शक्ति है, जिससे व्यक्ति का व्यक्तित्व शानदार और चमकदार बन जाता है । विशेषीकरण तो होना चाहिए, परन्तु अहंकार नहीं होना चाहिए । व्यक्ति के व्यक्तित्व के समाजीकरण में अहंकार सबसे बड़ी बाधा है, अहंकारी व्यक्ति समाज से दूर भागता जाता है, अतः उसके जीवन का समाजीकरण नहीं हो पाता । और जब तक व्यक्ति के जीवन का समाजीकरण न होगा, तब तक उसके जीवन का सम्पूर्ण विकास सम्भव नहीं है । व्यक्ति परिवार में रहे, समाज में रहे अथवा राष्ट्र में रहे, उसे यह सोचना चाहिए कि यह मेरा जीवन मेरे अपने लिए नहीं है, बल्कि सम्पूर्ण समाज के लिए है । जिस तरह दूध से भरे हुए कटोरे में शक्कर घुल-मिल जाती है । वह दुग्ध के कण-कण में परिव्याप्त हो जाती है और जिस प्रकार एक बिन्दु सिन्धु में मिलकर अपनी अलग सत्ता नहीं रखता, उसी प्रकार व्यक्ति का व्यक्तित्व जब समाज में मिलकर अपनी अलग सत्ता नहीं रखता तभी वह इस तत्व को समझ सकता है कि समाज का लाभ, मेरा अपना लाभ

है, समाज का सुख, मेरा अपना सुख हैं और समाज का विकास, मेरा अपना विकास है ।

समाज का लाभ, मेरा अपना लाभ है, समाज का सुख, मेरा अपना सुख हैं और समाज का विकास, मेरा अपना विकास है।

बिन्दु जब सिंधु में मिल जाता है, तब वह क्षुद्र से विराट् हो जाता है।

स्पेन्सर का विचार :

स्पेन्सर का कथन है- समाज सदस्यों के लाभ के लिए होता है, न कि सदस्य समाज के लाभ के लिए । इसका अर्थ केवल इतना ही है कि जब व्यक्ति समाज के हाथों में अपने आपको समर्पित करता है, तब समाज भी उन्मुक्त भाव से उसे सुख का साधन प्रस्तुत कर देता है । मेरे विचार में सबसे सुखी समाज वह है, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति परस्पर हार्दिक सम्मान की भावना रखता है और दूसरे के जीवन का समादर करता है ।

याद रखिए, समाज के विकास में ही आपका अपना विकास है और समाज के पतन में अपका अपना पतन है । समाज का विकास करना, यह प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य हो जाता है । जब तक व्यक्ति में सामाजिक भावना का उदय नहीं होता है, तब तक वह अपने आप को बलवान नहीं बना सकता । एक बिंदु जल का क्या कोई अस्तित्व रहता है ? किन्तु वही बिन्दु जब सिंधु में मिल जाता है, तब वह क्षुद्र से विराट् हो जाता है । इसी प्रकार क्षुद्र व्यक्ति समाज में मिलकर विराट् बन जाता है । व्यक्ति का व्यक्तित्व समाजीकरण में ही विकसित होता है ।

आज के युग में समाज की बड़ी चर्चा है । कुछ लोग समाजवाद के नाम से भयभीत रहते हैं, वे यह सोचते हैं कि यदि समाजवाद आ गया तो हमारा विनाश हो जायेगा । विनाश का अर्थ है- उनकी सम्पत्ति का उनके हाथों से निकल जाना । क्योंकि समाजवाद में सम्पत्ति और सत्ता व्यक्ति की न रहकर, समाज की हो जाती है । यह सब कुछ होने पर भी कितने आश्चर्य की बात है कि आज संसार में सर्वत्र कहीं कम तो कहीं अधिक समाजवाद का प्रसार और प्रचार बढ़ रहा है । इस वर्तमान युग में समाजवाद, लोकतंत्रवाद, साम्यवाद का ही प्रभुत्व होता जा रहा है । समाजवाद के विषय में परस्पर विरोधी इतनी विभिन्न धारणाएँ है कि समाजवाद वर्ग विभिन्न दलों में विभक्त है । कौन समाजवादी है और कौन नहीं ? यह कहना कठिन है । मेरे विचार में समाजवाद एक सिद्धान्त है और एक राजनैतिक आन्दोलन के रूप मे प्रकट हुआ है । किन्तु यथार्थ में वह राजनीति का ही सिद्धान्त नहीं है, बल्कि उसका अपना एक आर्थिक सिद्धान्त भी है । समाजवाद के राजनीतिक और आर्थिक सिद्धान्त इस प्रकार से मिले हुए है कि वे एक दूसरे से पृथक् नहीं हो सकते ।

शोषण-मुक्त समाज :

"समाजवाद उस टोपी के समान है जिसका आकार समाप्त हो गया है, क्योंकि सभी लोग उसे पहनते है ।" समाजवाद के सम्बन्ध में भारत के महान् चिन्तक आचार्य नरेन्द्र देव ने कहा है- "शोषण-मुक्त समाज की रचना करके वर्तमान समाज की प्रचलित दासता, विषमता और असहिष्णुता को सदा के लिए दूर करके, समाजवाद स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृत्व की वास्तविक स्थापना करना चाहता है ।" परन्तु याद रखिए,

समाजवाद वहीं पर पल्लवित और विकसित हो सकता है, जहाँ के व्यक्ति में सामूहिक एवं सामाजिक भावना का उदय हो चुका हो ।

समाजवाद दो ही स्थानों पर काम करता है- एक मधुमक्खियों के छत्ते में और दूसरे चींटियों के बिल में।

एक विद्वान् ने कहा है- समाजवाद दो ही स्थानों पर काम करता है- एक मधुमक्खियों के छत्ते में और दूसरे चींटियों के बिल में । इसका अभिप्राय केवल इतना ही है कि मधुमक्खी और चींटी में व्यापक रूप में सामाजिक भावना का उदय हुआ है । वर्तमान युग के तत्वदर्शी कार्ल मार्क्स ने अपने एक ग्रन्थ में कहा है -"समाजवाद मनुष्य को विवशता के क्षेत्र से हटाकर उसे स्वाधीनता के राज्यों में ले जाना चाहता है ।" समाजवाद के सम्बन्ध में इस प्रकार के विभिन्न विचार है । फिर भी हमें यह सोचना है कि समाजवाद समाज को ऐसी क्या वस्तु प्रदान करता है, जिसके कारण वह आज के युग में प्रत्येक राष्ट्र के लिए अथवा धरती के अधिकांश राष्ट्रों के लिए आवश्यक बनता जा रहा है ।

महावीर का सर्वोदय :

समाजवाद क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि समाजवाद एक आदर्श है, समाजवाद एक दृष्टिकोण है और समाजवाद जीवन की एक प्रणाली है । आज के युग में और विशेषतः राजनीति में वह एक विश्वास है और है- एक जीवन्त जन-आन्दोलन । समाजवाद का राजनैतिक रूप, जैसा कि उसके पुरस्कर्ताओं ने प्रतिपादित किया है, यदि उसी रूप में वह समाज में स्थापित किया जाता है, तो वह समाज के लिए

एक सुन्दर वरदान ही है, भीषण अभिशाप नहीं । समाजवाद क्या चाहता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि समाजवाद, समाज की भूमि और समाज की सम्पत्ति पर समाज का ही आधिपत्य चाहता है ।

समाजवाद का ध्येय है- एक वर्ग-हीन समाज की स्थापना । वह वर्तमान समाज का संगठन इस प्रकार करना चाहता है कि वर्तमान में परस्पर विरोधी स्वार्थों वाले शोषक, शोषित तथा पीड़क और पीड़ित वर्गों का अन्त हो जाए । समाज, सहयोग और सह-अस्तित्व के आधार पर संगठित व्यक्तियों का एक ऐसा समूह बन जाए, जिसमें एक सदस्य की उन्नति का अर्थ स्वभावतः दूसरे सदस्य की उन्नति हो और सब मिलकर सामूहिक रूप से परस्पर उन्नति करते हुए जीवन व्यतीत कर सकें । समाजवाद में व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि की प्रधानता होती है । इसमें सर्व-प्रकार के शोषण का अन्त हो जाता है और समाज की पूंजी, समाज के किसी भी वर्ग विशेष के हाथों में न रहकर सम्पूर्ण समाज की हो जाती है । सबका समान उदय ही समाजवाद है ।

> *समाजवाद में व्यक्ति की अपेक्षा समष्टि की प्रधानता होती है।*
>
> *सबका समान उदय ही समाजवाद है।*

मैं आपसे समाजवाद के सम्बन्ध में कुछ कह रहा था । इसका अर्थ आप यह मत समझिए कि मैं किसी राजनीतिक सिद्धान्त का प्रतिपादन आपके सामने कर रहा हूँ । आज का युग राजनीति का युग है, अतः प्रत्येक सिद्धान्त को राजनीतिक दृष्टि से सोचने और समझने का

मनुष्य का दृष्टिकोण बन गया है। इसका अर्थ यह भी नहीं है कि आज के इस युग से पूर्व समाजवाद का अस्तित्व नहीं था। भगवान् महावीर और बुद्ध के युग के राजा गणतन्त्री थे। गणतन्त्र भी समाजवाद का ही एक प्राचीनतर रूप है। आज के युग में गांधीजी ने सर्वोदय की स्थापना की और आचार्य विनोबा ने उसकी विशद व्याख्या की। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सर्वोदय पहले कभी नहीं था।

गांधीजी से बहुत पूर्व जैन संस्कृति के महान् उन्नायक आचार्य समन्तभद्र ने भगवान् महावीर के तीर्थ एवं संघ के लिए सर्वोदय का प्रयोग किया था। आचार्य के कथन का अभिप्राय यही था कि भगवान् महावीर के तीर्थ में और भगवान् महावीर के शासन में और भगवान् महावीर के संघ में सबका उदय है, सबका कल्याण है और सबका विकास है। किसी एक वर्ग का, किसी एक सम्प्रदाय का अथवा किसी एक जाति-विशेष का ही उदय सच्चा सर्वोदय नहीं हो सकता। जिसमें सर्व-भूत हित हो, वही सच्चा सर्वोदय है। मेरे अपने विचार में जहाँ अहिंसा और अनेकान्त है, वहीं सच्चा समाजवाद है, वहीं सच्चा गणतन्त्रवाद है और वहीं सच्चा सर्वोदयवाद है।

मेरे अपने विचार में जहाँ अहिंसा और अनेकान्त है, वहीं सच्चा समाजवाद है, वहीं सच्चा गणतन्त्रवाद है, और वहीं सच्चा सर्वोदयवाद है।

आज का समाजवाद भले ही आर्थिक आधार पर खड़ा हो, पर मेरे विचार में केवल अर्थ से ही मानव-जीवन की समस्याओं का हल नहीं हो सकता। उसके लिए धर्म और अध्यात्म की भी आवश्यक रहती

है। केवल रोटी का प्रश्न ही मुख्य नहीं है। रोटी के प्रश्न से भी बड़ा एक प्रश्न है कि मनुष्य अपने को पहचाने और अपनी सीमा को समझे। यदि मनुष्य अपने को नहीं पहचानता और अपनी सीमा को नहीं समझता, तो उसके लिए समाजीकरण, समाजवाद और सर्वोदयवाद सभी कुछ निरर्थक और व्यर्थ होगा। समाज की प्रतिष्ठा तभी रह सकेगी, जब व्यक्ति अपनी सीमा को समझ लेगा।

अगस्त 1968

जैन भवन, मोती कटरा,
आगरा

तुम अपनी आवश्यकताओं को सीमित करो । जो अपार साधन-सामग्री तुम्हारे पास हैं, उसका पूर्ण रूप में नहीं तो, उचित सीमा में विसर्जन करो । एक सीमा से अधिक धन पर अपना अधिकार मत रखो, आवश्यक क्षेत्र, वास्तु रूप भूमि से अधिक भूमि पर अपना स्वामित्व मत रखो । इसी प्रकार पशु, दास-दासी आदि को भी अपने सीमा-हीन अधिकार से मुक्त करो ।

तीर्थंकर महावीर का अपरिग्रह दर्शन

भगवान् महावीर के चिंतन में जितना महत्त्व अहिंसा को मिला, उतना ही अपरिग्रह को भी मिला। उन्होंने अपने प्रवचनों में जहाँ-जहाँ आरम्भ (हिंसा) का निषेध किया, वहाँ-वहाँ परिग्रह का भी निषेध किया है। चूंकि मुख्य-रूपेण परिग्रह के लिए ही हिंसा की जाती है, अतः अपरिग्रह अहिंसा की पूरक साधना है।

> *अपरिग्रह अहिंसा की पूरक साधना है।*
>
> *असंभव और अशक्य धर्म का उपदेश भी निरर्थक है।*

परिग्रह क्या है ?

प्रश्न खड़ा होता है, परिग्रह क्या है ? उत्तर होगा- धन-धान्य, वस्त्र-भवन, पुत्र-परिवार और अपना शरीर यह सब परिग्रह है। इस पर एक प्रश्न खड़ा हुआ होगा कि यदि ये ही परिग्रह हैं, तो इनका सर्वथा त्याग कर कोई कैसे जी सकता है ? जब शरीर भी परिग्रह है तो कोई अशरीर बनकर जिए, क्या यह संभव है ? फिर तो अपरिग्रह का आचरण ही असंभव है। असंभव और अशक्य धर्म का उपदेश भी निरर्थक है। उसका कोई लाभ नहीं।

भगवान् महावीर ने हर प्रश्न का अनेकान्त-दृष्टि से समाधान दिया है। परिग्रह की बात भी अनेकांत-दृष्टि से निश्चित की और कहा-

वस्तु, परिवार और शरीर परिग्रह हैं भी और नहीं भी। मूलतः वे परिग्रह नहीं हैं, क्योंकि वे तो बाहर में केवल वस्तु रूप है। परिग्रह एक वृत्ति है, जो प्राणी के अंतरंग चेतना की एक अशुद्ध स्थिति है। अतः जब चेतना बाह्य वस्तुओं में आसक्ति, मूर्च्छा, ममत्व (मेरापन) का आरोप करती है तभी वे वस्तुएं परिग्रह होती हैं, अन्यथा नहीं। मूर्च्छा ही वस्तुतः परिग्रह है।

परिग्रह का अर्थ है- उचित-अनुचित का विवेक किए बिना आसक्ति रूप में वस्तुओं को सब ओर से पकड़ लेना, जमा करना।

इसका अर्थ है- वस्तु में परिग्रह नहीं, भावना में ही परिग्रह है। ग्रह में आवश्यकता एक चीज है, परिग्रह में आसक्ति दूसरी चीज है। ग्रह का अर्थ उचित आवश्यकता के लिए वस्तु को उचित रूप में लेना एवं उसका उचित रूप में ही उपयोग करना। और परिग्रह का अर्थ है- उचित-अनुचित का विवेक किए बिना आसक्ति रूप में वस्तुओं को सब ओर से पकड़ लेना, जमा करना, उनका मर्यादाहीन गलत और असमाजिक रूप में उपयोग करना। क्योंकि वहाँ आसक्ति है।

वस्तु न भी हो यदि उसकी आसक्ति-मूलक मर्यादा-हीन अभीप्सा है, तो वह भी परिग्रह है। इसीलिए महावीर ने कहा था- **मुच्छा परिग्गहो।** मूर्च्छा तथा मन की ममत्व-दशा ही वास्तव में परिग्रह है। जो साधक ममत्व से मुक्त हो जाता है, वह सोना-चाँदी के पहाड़ों पर बैठा हुआ भी अपरिग्रही कहा जा सकता है। वहाँ ममत्व नहीं है। इस प्रकार भगवान् महावीर ने परिग्रह की, एकान्त जड़वादी परिभाषा को तोड़कर उसे भाववादी, चैतन्यवादी परिभाषा दी।

अपरिग्रह का मौलिक अर्थ

भगवान् महावीर ने बताया, अपरिग्रह का सीधा-सा अर्थ है- निस्पृहता, निरीहता। इच्छा ही सबसे बड़ा बन्धन है, दुःख है। जिसने इच्छा का निरोध कर दिया, उसे मुक्ति मिल गई। इच्छा-मुक्ति ही वास्तव में संसार-मुक्ति है। इसलिए सबसे प्रथम इच्छाओं पर, आकांक्षाओं पर संयम करने का उपदेश महावीर ने दिया। बहुत से साधक, जिनकी चेतना इतनी प्रबुद्ध होती है कि वे अपनी सम्पूर्ण इच्छाओं पर विजय प्राप्त कर सकते हैं, महाव्रती-संयमी के रूप में पूर्ण अपरिग्रह के पथ पर बढ़ते हैं। किन्तु इससे अपरिग्रह केवल संन्यास क्षेत्र की ही साधना मात्र बनकर रह जाती है, अतः सामाजिक क्षेत्र में अपरिग्रह की अवधारणा के लिए उसे गृहस्थ-धर्म के रूप में भी एक परिभाषा दी गई।

महावीर ने कहा- सामाजिक प्राणी के लिए इच्छाओं का सम्पूर्ण निरोध, आसक्ति का समूल विलय यदि संभव न हो, तो वह आसक्ति को क्रमशः कम करने की साधना कर सकता है, इच्छाओं को सीमित करके ही वह अपरिग्रह का साधक बन सकता है।

इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं, उनका जितना विस्तार करते जाओ, वे उतनी ही व्यापक असीम बनती जाएँगी। और उतनी ही चिन्ताएँ कष्ट, अशान्ति बढ़ती जाएँगी।

इच्छाएँ सीमित होगी, तो चिन्ता और अशान्ति भी कम होगी। इच्छाओं को नियन्त्रित करने के लिए महावीर ने 'इच्छा परिमाण व्रत' का उपदेश किया। यह अपरिग्रह का सामाजिक रूप भी था। बड़े-बड़े धन-कुबेर श्रीमंत एवं सम्राट् भी अपनी इच्छाओं को सीमित, नियन्त्रित कर मन को शान्त एवं प्रसन्न रख सकते हैं। और साधन-हीन साधारण

जो अपार साधन, सामग्री तुम्हारे पास हैं, उसका पूर्ण रूप में नहीं तो, उचित सीमा में विसर्जन करो।

लोग, जिनके पास सर्व-ग्राही लम्बे-चौड़े साधन तो नहीं होते, पर इच्छाएँ असीम दौड़ लगाती रहती हैं, वे भी इच्छा परिणाम के द्वारा समाजोपयोगी उचित आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए भी अपने अनियन्त्रित इच्छा-प्रवाह के सामने अपरिग्रह का एक आन्तरिक अवरोध खड़ा कर उसे रोक सकते हैं।

इच्छा परिमाण- एक प्रकार के स्वामित्व-विसर्जन की प्रक्रिया थी। महावीर के समक्ष जब वैशाली का आनन्द श्रेष्ठी इच्छा परिमाण व्रत का संकल्प लेने उपस्थित हुआ, तो महावीर ने बताया- "तुम अपनी आवश्यकताओं को सीमित करो। जो अपार-साधन सामग्री तुम्हारे पास हैं, उसका पूर्ण रूप में नहीं तो, उचित सीमा में विसर्जन करो। एक सीमा से अधिक धन पर अपना अधिकार मत रखो, आवश्यक क्षेत्र, वास्तु रूप भूमि से अधिक भूमि पर अपना स्वामित्व मत रखो। इसी प्रकार पशु, दास-दासी आदि को भी अपने सीमा-हीन अधिकार से मुक्त करो।"

स्वामित्व विसर्जन की यह सात्त्विक प्रेरणा थी, जो समाज में सम्पत्ति के आधार पर फैली अनर्गल विषमताओं का प्रतिकार करने में सफल सिद्ध हुई। मनुष्य जब आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति व वस्तु के संग्रह पर से अपना अधिकार हटा लेता है, तब वह समाज और राष्ट्र के लिए उन्मुक्त हो जाती है। इस प्रकार अपने आप ही एक सहज समाजवादी अन्तर् प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है।

भोगोपभोग एवं दिशा-परिमाण :

मानव सुखाभिलाषी प्राणी है । वह अपने सुख के लिए नाना प्रकार के भोगोपभोगों की परिकल्पना के माया-जाल में उलझा रहता है । यह भोग-बुद्धि ही अनर्थ की जड़ है । इसके लिए ही मानव अर्थ-संग्रह एवं परिग्रह के पीछे पागल की तरह दौड़ रहा है । जब तक भोग-बुद्धि पर अंकुश नहीं लगेगा, तब तक परिग्रह-बुद्धि से मुक्ति नहीं मिलेगी । इसका उपचार सन्तोष-वृत्ति ही है ।

यह ठीक है कि मानव-जीवन भोगोपभोग से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता । शरीर है, उसकी कुछ अपेक्षाएं है । उन्हें सर्वथा कैसे ठुकराया जा सकता है । अतः महावीर आवश्यक भोगोपभोग से नहीं, अपितु अमर्यादित-भोगोपभोग से मानव की मुक्ति चाहते थे ।

उन्होंने इसके लिए भोग के सर्वथा त्याग का व्रत न बताकर 'भोगोभोग परिमाण' का व्रत बताया है ।

भोग-परिग्रह का मूल है । ज्यों ही भोग यथोचित आवश्यकता की सीमा में आबद्ध होता है, परिग्रह भी अपने आप सीमित हो जाता है । इस प्रकार महावीर द्वारा उपदिष्ट 'भोगोपभोग परिमाण' व्रत में से अपरिग्रह स्वतः फलित हो जाता है ।

महावीर ने अपरिग्रह के लिए दिशा-परिमाण और देशावकासिक व्रत भी निश्चित किए थे । इन व्रतों का उद्देश्य भी आसपास के देशों एवं प्रदेशों पर होने वाले अनुचित व्यापारिक, राजकीय एवं अन्य शोषण प्रधान आक्रमणों से मानव समाज को मुक्त करना था । दूसरे देशों की सीमाओं, अपेक्षाओं एवं स्थितियों का योग्य विवेक रखे बिना भोग-वासना की पूर्ति के चक्र में इधर-उधर अनियन्त्रित भाग-दौड़ करना महावीर के

साधना क्षेत्र में निषिद्ध था । आज के शोषण-मुक्त समाज की स्थापना के विश्व मंगल उद्घोष में, इस प्रकार महावीर का चिन्तन-स्वर पहले से ही मुखरित होता आ रहा है । यही शोषण-रहित समाज का आधार है ।

परिग्रह का परिष्कार :

पहले के संचित परिग्रह की चिकित्सा उसका उचित वितरण है । प्राप्त साधनों का जनहित में विनियोग दान है, जो भारत की विश्व-मानव समाज को एक बहुत बड़ी देन है, किन्तु स्वामित्व-विसर्जन की उक्त दान-प्रक्रिया में कुछ विकृतियाँ आ गयी थी । अतः महावीर ने चालू दान प्रणाली में भी संशोधन प्रस्तुत किया । महावीर ने देखा, लोग दान तो करते हैं, किन्तु दान के साथ-साथ उनके मन में आसक्ति एवं अहंकार की भावनाएँ भी पनपती हैं । वे दान का प्रतिफल चाहते हैं, यश, कीर्ति, बड़प्पन, स्वर्ग और देवताओं की प्रसन्नता ! दान में प्रतिफल की भावना नहीं चाहिए ।

किसी को कुछ देना मात्र ही दान-धर्म नहीं है, अपितु निष्काम बुद्धि से, जनहित में संविभाग करना, सहोदर बन्धु के भाव से उचित हिस्सा देना, दान-धर्म है। दान का अर्थ हैं- संविभाग।

आदमी दान तो देता था, पर वह याचक की विवशता या गरीबी के साथ प्रतिष्ठा और स्वर्ग का सौदा भी कर लेना चाहता था । इस प्रकार का दान समाज में गरीबी को बढ़ावा देता था, दाताओं के अहंकार को भी प्रोत्साहित करता था । महावीर ने इस गलत दान-भावना का परिष्कार किया । उन्होंने कहा- किसी को कुछ देना मात्र ही दान-धर्म नहीं है, अपितु निष्काम बुद्धि से, जन हित में संविभाग

करना, सहोदर बन्धु के भाव से उचित हिस्सा देना, दान-धर्म है । दाता बिना किसी प्रकार के अहंकार व भौतिक प्रलोभन से ग्रस्त हुए, सहज सहयोग की पवित्र बुद्धि से दान करे । वही दान वास्तव में दान है । दान का अर्थ हैं- संविभाग ।

इसीलिए भगवान् महावीर दान को 'संविभाग' कहते थे । संविभाग अर्थात् सम्यक्-उचित विभाजन-बँटवारा और इसके लिए भगवान् का गुरु-गम्भीर घोष था कि संविभागी को ही मोक्ष है, असंविभागी को नहीं- **असंविभागी न हु तस्स मोक्खो ।**

वैचारिक अपरिग्रह :

भगवान् महावीर ने परिग्रह के मूल तत्व, मानव मन की बहुत गहराई में देखे । उनकी दृष्टि में मानव-मन की वैचारिक अहंता एवं आसक्ति की हर प्रतिबद्धता परिग्रह है । जातीय श्रेष्ठता, भाषागत पवित्रता, स्त्री-पुरुषों का शरीराश्रित अच्छा-बुरापन, परम्पराओं का दुराग्रह आदि समग्र वैचारिक आग्रहों, मान्यताओं एवं प्रतिबद्धताओं को महावीर ने आन्तरिक परिग्रह बताया और उससे मुक्त होने की प्रेरणा दी । महावीर ने स्पष्ट कहा कि विश्व की मानव जाति एक है । उसमें राष्ट्र, समाज एवं जातिगत उच्चता-नीचता जैसी कोई चीज नहीं । कोई भी भाषा शाश्वत एवं पवित्र नहीं है । स्त्री और पुरुष आत्मदृष्टि से एक है, कोई ऊँचा या नीचा नहीं है । इसी तरह के अन्य सब सामाजिक तथा

> *भगवान् महावीर ने मानव-चेतना को वैचारिक परिग्रह से मुक्त कर उसे विशुद्ध अपरिग्रह भाव पर प्रतिष्ठित किया।*

साम्प्रदायिक आदि भेद विकल्पों को महावीर ने औपाधिक बताया, स्वाभाविक नहीं ।

इस प्रकार भगवान् महावीर ने मानव-चेतना को वैचारिक परिग्रह से भी मुक्त कर उसे विशुद्ध अपरिग्रह भाव पर प्रतिष्ठित किया । अपरिग्रह की व्यापक परिभाषा की ।

भगवान् महावीर के अपरिग्रहवादी चिन्तन की पाँच फलश्रुतियाँ आज हमारे समक्ष हैं, जो इस प्रकार हैं-

1. इच्छाओं का नियम ।
2. समाजोपयोगी साधनों के स्वामित्व का विसर्जन ।
3. शोषण-मुक्त समाज की स्थापना ।
4. निष्कामबुद्धि से अपने साधनों का जनहित में संविभाग-दान ।
5. आध्यात्मिक-शुद्धि ।

मुहादाई मुहाजीवी, दो वि गच्छंति सुग्गइं । - दशवैकालिक सूत्र

इच्छा जिनकी दासी है, अनुवर्तिनी है, जो मन की तरंगों में नहीं बहते बल्कि मन जिनके संकेतों पर चलता है, जो इच्छाओं को जब भी, जैसा भी चाहें मोड़ दे सकते हैं वे इच्छाओं के स्वामी हैं, और वे ही समस्त संसार के स्वामी हैं। उन्हें ही भारतीय दर्शन जगदीश्वर कहता है, जगन्नाथ कहता है।

इच्छाओं का वर्गीकरण

संस्कृत साहित्य के एक प्राचीन आचार्य ने एक श्लोक में बहुत सुन्दर बात कही है-

आशाया ये दासा: ते दासा: सर्व-लोकस्य l
आशा दासी येषां, तेषां दासायते लोक: ll

जो लोग अपनी इच्छाओं के गुलाम हैं, वे समस्त संसार के गुलाम हैं । मन में तरंग उठी, विकल्प आया और बस उसी के प्रवाह में बह गए । जो लोग विकल्प के प्रवाह को रोकने के लिए कुछ भी संकल्प-शक्ति (विल-पावर) नहीं रखते, वे संसार के नेता एवं स्वामी नहीं बन सकते । शरीर और इन्द्रियाँ तो मन के इशारे पर चलती हैं, ये सब मन के गुलाम हैं । किन्तु जब मन इनका गुलाम हो जाता है, तो फिर प्रवाह उलटा ही बहने लग जाता है । मन की गुलामी वर्तमान जीवन तक ही सीमित नहीं रहती, वह अनेक जन्म-जन्मान्तरों तक चलती है और हर क्षण परेशान करती रहती है ।

बहुत बार ऐसा लगता है कि साधक इच्छाओं की गुलामी को तिलांजलि दे रहा है, धन-परिवार और कुटुम्ब से मोह का नाता तोड़ रहा है । किन्तु स्थिति यह हो जाती है कि जो इच्छाएँ, बाहर में व्यक्त थीं, वे बाहर में तो दिखाई नहीं देती, उनसे संघर्ष का कोई रूप दिखाई नहीं देता, किन्तु वे अपने पूरे दल-बल के साथ भीतर बैठ जाती हैं । और

व्यक्ति बाह्य इच्छाओं की जगह अन्दर की इच्छाओं का दास बन जाता है। जो व्यक्ति यहाँ पर हजारों लाखों का दान दे देते हैं, धन की इच्छा से अपना सम्बन्ध समाप्त कर लेते हैं, परन्तु वे परलोक में उससे अनेक गुणा अधिक प्राप्त करने के सपने देखते हैं। वे यहाँ जो कुछ भी त्याग करते हैं, परलोक में सुख भोगने की प्रबल आकांक्षाओं से पीड़ित रहते हैं। त्याग की यह विचित्र स्थिति सुलझाए नहीं सुलझ रही है। यहाँ उपवास में पानी तक का त्याग करते हैं और लगता है, जैसे पिपासा पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली, परन्तु अन्तर में मन स्वर्ग-सुखों की मादक मदिरा पीने को लालायित रहता है। साधक पर-स्त्री का त्याग कर देता है, यहाँ तक कि अपनी स्त्री का भी त्याग कर ब्रह्मचर्य की साधना में लग जाता है, किन्तु अन्दर में मन स्वर्ग की अप्सराओं के पीछे चक्कर काटता रहता है। यह तो ऐसा हुआ कि वर्तमान में जो ब्रह्मचर्य पाला जाता है, उसका उद्देश्य भविष्य में यहाँ से भी वहाँ व्यभिचार की प्रबल आकांक्षा है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का वैराग्य, वास्तव में वैराग्य नहीं है। यह तो एक प्रकार का सट्टा (जुआ) हुआ। स्वर्ग के मोहक ऐश्वर्य और सुन्दर अप्सराओं की प्राप्ति के लिए यहाँ का यथोक्त दान और ब्रह्मचर्य सट्टेबाजी ही तो है। यह तो वासना के लिये वासना का त्याग हुआ। भोग के लिए भोग का त्याग हुआ। विचारणीय बात तो यह है कि यह त्याग है या और कुछ है ? स्थिति में अन्तर इतना ही है कि कुछ लोग वर्तमान संसार की भोग-वासनाओं के गुलाम होते है, तो कुछ लोग

स्वर्ग के मोहक ऐश्वर्य और सुन्दर अप्सराओं की प्राप्ति के लिए यहाँ का यथोक्त दान और ब्रह्मचर्य सट्टेबाजी ही तो है।

परलोक के खूंटे से बंधे रहते हैं । दोनों ही स्थितियों में आत्मा तो बंधी ही रहेगी । त्याग बन्धन-मुक्ति के लिए है । और इस तरह के त्याग में बन्धन-मुक्ति कहाँ है ? यहाँ का खूंटा तो उखाड़ फेंकना सहज है, उसमें कुछ प्रशंसा आदि का प्रलोभन भी दिखता है, किन्तु परलोक का खूँटा उखाड़ना बहुत कठिन है । यह उन लोगों की स्थिति है, जो इच्छाओं के दास है, वे समस्त संसार के दास हैं ।

मन के स्वामी :

उक्त स्थिति के विपरीत कुछ लोग इच्छाओं के स्वामी हैं । इच्छा जिनकी दासी है, अनुवर्तिनी है, जो मन की तरंगों में नहीं बहते बल्कि मन जिनके संकेतों पर चलता है, जो इच्छाओं को जब भी, जैसा भी चाहें मोड़ दे सकते हैं, वे इच्छाओं के स्वामी हैं, और वे ही समस्त संसार के स्वामी हैं । उन्हें ही भारतीय दर्शन जगदीश्वर कहता है, जगन्नाथ कहता है । आचार्य शंकर ने एक प्रश्न के उत्तर में कहा है- जिसने मन को जीत लिया, उसने समूचे संसार को जीत लिया ।

> *कुछ लोग इच्छाओं के स्वामी है, वे ही समस्त संसार के स्वामी हैं। जिसने मन को जीत लिया, उसने समूचे संसार को जीत लिया।*

जितं जगत् केन ? मनो हि येन ।

और जो मन से पराजित हो गया, वह संसार से पराजित हो गया । संकल्पों का केन्द्र मन को माना गया है, शरीर और इन्द्रियाँ मन के प्रभाव में चलते हैं । यदि मन में किसी प्रकार की उदासी या बेचैनी होती है, तो शरीर भले कितना ही लम्बा-तगड़ा हो, वह अपनी शक्ति खो बैठता है । यदि मन में स्फूर्ति तथा उत्साह होता है, तो दुबल-पतला

यदि मन में स्फूर्ति तथा उत्साह है, तो दुबल-पतला शरीर भी जीवन की दुर्गम घाटियों को पार कर जाता है।

शरीर भी जीवन की दुर्गम घाटियों को पार कर जाता है । तभी तो कहा जाता है-

मन के हारे, हार है, मन के जीते, जीत ।

इच्छाओं का वर्गीकरण :

जब इच्छाएँ सजग मन की दासी बनकर चलती है, तो यह भी देखना चाहिए कि उनसे क्या सेवाएँ लेनी चाहिए । कौन-सी इच्छाएँ उपयोगी होती हैं और कौन-सी निरर्थक । इच्छाओं का यह वर्गीकरण करने से जीवन में सुख की व्यवस्था ठीक होती है, फिर इच्छाएँ निरर्थक और अनुपयोगी होती है, उन्हें मन से अलग करना होगा और फिर यह छाँटना होगा कि उपयोगी इच्छाओं में भी कौन प्रथम पूर्ति किए जाने योग्य है और किसको कुछ समय के लिए टाला भी जा सकता है । यदि भोजन करने की तत्काल आवश्यकता हुई, तो उसे प्राथमिकता देनी होगी, क्योंकि वह जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है; किन्तु उसके साथ-साथ अन्य इच्छाएँ, जिनकी तत्काल पूर्ति हुए बिना भी काम चल सकता है, उन्हें कुछ समय के लिए टालना ही होगा । जैसे भूख लगने पर भोजन करना है, यह आवश्यक है । किन्तु भोजन में मिष्टान्न खाना है, यह कोई आवश्यक नहीं है । यह केवल इच्छा है । इस प्रकार की इच्छा पूर्ण न भी हो, तो भी साधारण भोजन से काम चल जाना चाहिए और उसमें आनन्द का अनुभव होना चाहिए ।

इच्छाओं को ठुकराने की इस प्रक्रिया का आरम्भ कहाँ से हो, इस के लिए इच्छाओं के विश्लेषण की आवश्यकता है । इच्छाओं की तह में जाने से यह पता लगता है कि वे इच्छाएँ कहाँ तक उपयोगी और

आवश्यक हैं । सम्भव है कि भोजन की आवश्यकता होने पर साधारण पात्र में, साधारण भोजन ही प्राप्त हो । अब यदि दृष्टि भोजन तक ही सीमित है, तो उसमें सन्तोष हो जाएगा और तृप्ति भी मिल जाएगी । और यह बात भगवान् महावीर के उस दृष्टिकोण से मेल खाती है कि 'जीने के लिए भोजन है, भोजन के लिए जीना नहीं है ।' भगवान् महावीर ने कहा है- **जवणट्ठाए भुंजिज्जा ।**

> *जीने के लिए भोजन है, भोजन के लिए जीना नहीं है।*

जीवन-यात्रा को सुखपूर्वक चलाने के लिए ही भोजन करना चाहिए किन्तु इस बात में गड़बड़ी तब पैदा होती है, जब जीवन को महत्त्व न देकर, भोजन को अर्थात् भोग-विलास को महत्त्व दिया जाता है । जीवन के लिए भोजन तो चाहिए, वह आवश्यक है; किन्तु मिर्च-मासाला आदि से सम्बन्धित भोजन के जितने भी स्वाद-सम्बन्धी प्रकार हैं, वे सभी अनावश्यक हैं । उनके न होने से भी क्षुधा की पूर्ति हो सकती है । ये सब मिर्च, मसाले और मिष्ठान्न आदि क्षुधा पूर्ति के लिए नहीं, बल्कि जिह्वा के स्वाद की पूर्ति के लिए बनाए जाते हैं । जिह्वा के स्वाद की पूर्ति के लिए, यह सब उपक्रम होता है । एक प्रश्न और भी है कि भोजन के विविध प्रकार तो जीभ के स्वाद की तृप्ति के लिए बनाए गए हैं; किन्तु ये मेज, कुर्सियाँ, चाँदी, सोने के बर्तन आदि तो जिह्वा के लिए भी आवश्यक नहीं है । यह सब साज-सज्जाएँ व्यर्थ ही मन के अहंकार के पोषण के लिए होती हैं । मनुष्य अधिकतर अपनी वास्तविक इच्छाओं को अवास्तविक एवं अनावश्यक इच्छाओं से पृथक् नहीं कर पाता है । वह अपने अहंकार के संतोष के लिए अनेक प्रकार की सामग्री जुटाने का प्रयत्न करता है । यदि विश्लेषण करके देखा जाए,

अधिकांश कष्ट और परेशानियाँ तो अनावश्यक और प्रदर्शनकारी आकांक्षाओं के कारण ही उत्पन्न होती है।

तो वास्तविक इच्छाएँ बहुत कम होती है । वे तो इतनी अल्प होती हैं कि उनकी पूर्ति के लिए कोई विशेष परेशानी की जरूरत नहीं होती । अधिकांश कष्ट और परेशानियाँ तो अनावश्यक और प्रदर्शनकारी आकांक्षाओं के कारण ही उत्पन्न होती हैं ।

धन की पूजा या व्यक्ति की ?

एक दिन एक बहुत ही धनी-मानी सज्जन दर्शनार्थ आए । बात-चीत के प्रसंग में एक विचार आया कि आज मानव की पूजा उतनी नहीं होती, जितनी उसके अलंकार, धन, वैभव, वेशभूषा और पद की होती है । उसने कहा कि जब मैं एक साधारण गरीब आदमी था, मेरे पास धन जैसा कुछ नहीं था, तो नमस्कार पाने की तो कल्पना ही क्या की जा सकती है, मेरे नमस्कार का उत्तर भी मुझे नहीं मिलता था । अब जब कि मेरे पास धन है, ऐश्वर्य है, तो जो भी मिलता है, वही नमस्कार करता है, मैं उसके उत्तर में कभी-कभी कह देता हूँ कि 'हाँ, भाई, कह दूंगा ।' एक दिन किसी ने मुझसे पूछा कि- 'किससे कह दोगे ?' मैंने उत्तर दिया कि 'यह नमस्कार मुझे नहीं किया जाता है । मेरे धन को किया जाता है । यदि मुझे किया जाता, तो उस समय भी किया जाता, जब मेरे पास धन नहीं था । तब तो मेरे नमस्कार का प्रत्युत्तर भी नहीं मिलता था । अतः मैं यह नमस्कार नोटों के रूप में तिजोरी में विराजमान लक्ष्मी को कह देने की बात करता हूँ ।' इस प्रकार समाज ने व्यक्ति को कोई भी महत्त्व न देकर धन और ऐश्वर्य को ही महत्त्व दे रखा है ।

जो व्यक्ति समाज के इस धरातल से ऊपर उठकर व्यक्ति के गुणों का वास्तविक मूल्यांकन करने की योग्यता रखता है, वह धन और ऐश्वर्य के बढ़ने पर भी विनम्र रहता है। चूंकि वह स्वयं भी जीवन की इसी राह पर ठोकर खा चुका है, वह जीवन के स्वरूप और आयाम के बारे में जान चुका है, इसलिए धन, ऐश्वर्य और पद के साधन पाकर भी वह उनका गुलाम नहीं होता, बल्कि वह उन्हीं को अपना दास बनाए रखता है।

एक और सेठ की बात है। एक दिन वह किसी गरीब भाई का निमन्त्रण स्वीकार कर उसके घर पर गया। साथ में उसका एक छोटा चचेरा भाई भी था। निमन्त्रण देने वाले गरीब के टूटे-फूटे घर को देखकर सेठ के भाई ने कहा- 'कहाँ नरक में आ गिरे ?' इस पर सेठ ने कहा- 'व्यक्ति की सूरत और मकान को देखने के बदले उसके मधुर भाव और मन को देखना चाहिए। निमन्त्रण देने वाला टूटा-फूटा मकान नहीं है, बल्कि वह व्यक्ति है, जिसने शुद्ध प्रेम से, भाव से निमन्त्रण दिया है।'

सेठ का विचार कितना सुलझा हुआ है। आज लोग जीवन-पथ पर चलते हैं, जीवन के दिन गुजारते हैं, किन्तु वास्तव में जीवन के आदर्शपूर्ण व्यवहारों की धरती पर न उन्हें ठीक तरह चलना आता है, न जीवनयापन करना। वे जिन्दगी को ठीक ढंग से समझ ही नहीं पाते। उसका विश्लेषण और विवेचन इनके पास नहीं होता। बड़ी अजीब बात तो यह लगती है कि लोग परलोक में स्वर्ग की संकरी गली में चलने की लम्बी-चौड़ी बातें करते हैं, पर अभी तक वर्तमान जिन्दगी के महापथ पर लड़खड़ाते कदमों से चल रहे हैं।

हाँ, तो उस गरीब व्यक्ति ने सेठ और उसके भाई के आगे कांसे की टूटी-फूटी थाली में मोटी-मोटी रोटियाँ और आम का आचार रख दिया, साग पकाने की बटलोई में पीने के लिए जल रख दिया। सेठ बड़े आनन्द और प्रेम से खाना खाने लगा, किन्तु उसका छोटा भाई तो थाली, रोटी और बटलोई को ही देखता रहा। इस घटना पर विचारणीय प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि पेट के लिए ही भोजन करना है, तो भोजन तो दोनों के सामने एक जैसा है। एक बड़े प्रेम और रुचि के साथ भोजन करके अपनी क्षुधा तृप्त कर रहा है, दूसरा बार-बार उसको देखकर कुढ़ता है, खीजता है और आखिर बिना खाए ही उठ जाता है। अब प्रश्न यह होता है कि यदि भूख की शान्ति और पेट की तृप्ति के लिए ही भोजन है, तो फिर क्यों नहीं खाया गया ? इसका अर्थ है कि वह भूख के लिए नहीं खा रहा था। जहाँ सेठ ने भोजन करके आनन्द अनुभव किया, वहाँ उसका भाई दो-चार टुकड़े ही जहर की कड़वी गोली की भाँति निगल सका।

अब जरा विचार करके देखें कि एक ही परिस्थिति में दो व्यक्तियों की मनःस्थिति भिन्न प्रकार की और एक-दूसरे से विपरीत क्यों है ? इसका कारण यह है कि एक ने मन का समाधान कर लिया। वह एक ओर सुन्दर मेज, कुर्सी पर सोने-चाँदी के चमकते थालों में मनचाहा मिष्ठान्न खा सकता था, तो दूसरी ओर टूटी-फूटी कांसे की थाली में बिना चुपड़ी मोटी-रोटियाँ भी उसी प्रसन्नता के भाव से खा सकता था। वह जीवन की हर परिस्थिति और उलझन में समभाव से रह सकता था। वह भोजन मन के अहंकार के लिए नहीं, बल्कि क्षुधा की पूर्ति के लिए करता था। उसने जीवन की गति को नया मोड़ दिया था, इच्छा और कामनाओं का विश्लेषण करके उनका ठीक वर्गीकरण किया

था । उसने चिन्तन के बल पर आवश्यक और उपयोगी इच्छाओं से भिन्न अन्य तरंगित इच्छाओं पर काबू पा लिया था ।

इच्छा और आवश्यकता :

इस प्रकार जीवन में इच्छा और आवश्यकता का भेद समझना होगा । इच्छाएँ, हमारे मन में रात-दिन जन्म लेती हैं और कुछ देर हुड़दंग मचाकर खत्म भी हो जाती हैं, उनमें से कुछ ऐसी बच जाती हैं, जो हमें परेशान किए रहती हैं । जब तक वे पूरी नहीं होती, चैन नहीं पड़ता है । मान लीजिए एक बहन को साड़ी की आवश्यकता है । और इसके लिए वह पति से आग्रह करती है, स्वयं भी खरीद लेती है, यह आवश्यक विकल्प है । किन्तु इसी के साथ यदि दूसरा विकल्प जुड़ जाए कि साड़ी अमुक प्रकार की हो, जरी की हो, बनारसी हो, नाइलोन या सिल्क की हो, तो यह गलत है । साड़ी का मूल्य तथा गुणवत्ता का जो विचार है, वह शरीर की आवश्यकता के लिए नहीं, बल्कि इच्छा और अहंकार की पूर्ति के लिए है । जब इस प्रकार की गलत इच्छाओं से मनुष्य घिर जाता है, तो फिर यह विश्लेषण करना भी कठिन हो जाता है कि कौन सी इच्छा मात्र इच्छा है और कौन सी इच्छा आवश्यकता है ? कौन सही है और कौन गलत ?

एक बार मैं एक भाई के यहाँ गोचरी के लिए गया । जब भोजन ले चुका तो गृहस्वामी ने अतिथि कक्ष के कमरे को देखने का आग्रह किया । कमरा साज-सज्जा से चमक रहा था । कमरे में हर तरफ इतनी सजावट की चीजें थी कि इधर-उधर चलना-फिरना भी कठिन था । मैंने पूछा कि यह मकान आपने अपने लिए बनवाया है, या इन साज-सज्जाओं के लिए ? सेठ ने उत्तर दिया कि अपने लिए बनाया है महाराज ! मैंने कहा- 'सेठ ! आपका कमरा नाना प्रकार की साज-सामग्रियों से ऐसे

ठसाठस भरा है कि प्रवेश करने का रास्ता बड़ा तंग है । चौबीसों घंटें आपको यह चिन्ता सताती होगी कि कहीं कोई चीज गिर न जाए । यदि किसी बच्चे के हाथ से कोई नुकसान हो जाता होगा, तो फिर वह बुरी तरह पीटा भी जाता होगा । अब बताइए, यह मकान आपके लिए कहाँ है ? यह तो बस फर्नीचर के लिए है ?' सेठ के पास इसका कोई उत्तर नहीं था ।

बात बिल्कुल ठीक है । जिस मकान को व्यक्ति अपने रहने के लिए बनाता है, उसे मन के अहंकार और अनावश्यक विकल्पों की पूर्ति के लिए महंगे मूल्य पर खरीदे गए सामान से भर देता है । और उन मेहमानों को सौंप दिया जाता है, जो जड़ हैं और जिन्हें उसके उपयोग का न कोई भान है, न कोई आनन्द है ।

उक्त परिस्थिति पर विचार करने से पता चलेगा कि मकान एक आवश्यकता है । और यह भी अपेक्षणीय है कि वह साफ-सुथरा हो, हवा-पानी की सुविधा से युक्त हो । कोई धर्म, जिसका दिल-दिमाग सही है, यह नहीं कहता कि 'गृहस्थ अपना घर-बार छोड़कर, परिवार को, बाल-बच्चों को साथ लेकर वृक्षों के नीचे या फुटपाथ पर पड़ा रहे । वह यह भी नहीं कहता कि जीवन-यात्रा को ठीक तरह चलाने के लिए कुछ भी संघर्ष व श्रम न करो । और बस, इधर-उधर जूठी पत्तलों को चाट कर या भीख माँग कर जीवन गुजारो ।' यह व्यर्थ का वैराग्य है, वैराग्य का ढोंग है । जीवन में यथार्थता और वास्तविकता को स्वीकार किए बिना कोई भी धर्म चल नहीं सकता । और इसलिए जीवन की आवश्यकताओं से कोई धर्म इन्कार नहीं कर सकता । किन्तु इस सम्बंध में शर्त एकमात्र यही है कि आवश्यकताएँ वास्तव में आवश्यकताएँ हों, जीवन की मूलभूत समस्याएँ हों, सिर्फ अहंकार और दम्भ की परितृप्ति के लिए न हों ।

इसलिए भगवान् महावीर का दर्शन हमें कहता है कि 'यदि जीवन में शान्ति एवं अनाकुलता चाहते हो, तो इच्छा-परिमाण व्रत धारण करो।' जीवन में जो इच्छाएँ हैं, आवश्यकताएँ हैं, उनको समझने का प्रयत्न करो कि वे जीवन-धारण के लिए आवश्यक हैं, उपयोगी हैं, या सिर्फ श्रृंगार या अहंकार के पोषण के लिए ही हैं ? इच्छाओं का वर्गीकरण करने के बाद ही आपके जीवन में उद्बुद्ध हुई इच्छाओं के सम्बन्ध में समय पर उचित निर्णय हो सकता है कि अमुक प्रकार की इच्छाएँ पूर्ण करनी है इससे अन्य सब अनुपयोगी इच्छाओं की एक सीमा और मर्यादा बन जाएगी। और तब जीवन में परेशानी, कठिनाई और तकलीफें कम हो जाएंगी। हर परिस्थिति में आनन्द और उल्लास का अनुभव होने लगेगा।

यह शरीर ही आत्मा के अधीन है, जब तक शरीर है, तब तक बाह्य वस्तु का सर्वथा त्याग शक्य नहीं परन्तु अपनी तृष्णा पर पूरा नियंत्रण होना चाहिए । बिना इसके अपरिग्रह का पालन नहीं हो सकेगा । अपरिग्रहवाद की सबसे पहली मांग है- इच्छा निरोध की । इच्छा निरोध यदि नहीं हुआ तो तृष्णा का अंत नहीं होगा । इसका अर्थ यह नहीं है कि सुखकर वस्तुओं का, खाने-पीने की वस्तुओं का सेवन ही न करें । करें, किन्तु शरीर की रक्षा के लिए, सुख भोग की भावना से नहीं और वह भी निर्लिप्त होकर ।

अपरिग्रह : शोषण-मुक्ति

दुःखों का मूल :

भगवान् महावीर ने परिग्रह, संग्रह-वृत्ति एवं तृष्णा को संसार के समग्र दुःख-क्लेशों का मूल कहा है। संसार के समस्त जीव तृष्णावश होकर अशान्त और दुखी हो रहे हैं। तृष्णा, जिसका कहीं अन्त नहीं, कहीं विराम नहीं, जो अनन्त आकाश के समान अनन्त है। संसारी आत्मा धन, जन एवं भौतिक पदार्थों में सुख की, शान्ति की गवेषणा करते हैं, परन्तु उनका यह प्रयत्न व्यर्थ है। क्योंकि तृष्णा का अन्त किए बिना कभी सुख और शान्ति मिलेगी ही नहीं, लाभ से लोभ की अभिवृद्धि होती है, तृष्णा से व्याकुलता की बेल फैलती है, इच्छा करने से इच्छा बढ़ती है। परिग्रह, संग्रह, संचय, तृष्णा, इच्छा तथा लालसा एवं आसक्ति-भाव और मूर्च्छा भाव- ये सभी शब्द एकार्थक हैं। अग्नि में घृत डालने से जैसे वह कम न होकर अधिकाधिक बढ़ती है, वैसे ही संग्रह एवं परिग्रह से तृष्णा की आग शान्त न होकर और अधिक विशाल होती है।

> *मेरा धन, मेरा परिवार, मेरी सत्ता, मेरी शक्ति- यह भाषा, यह वाणी परिग्रह-वृत्ति में से जन्म पाती है।*

परिग्रह के मूल केन्द्र :

'कनक और कान्ता' परिग्रह के मूल केन्द्र बिन्दु हैं। मेरा धन, मेरा परिवार, मेरी

सत्ता, मेरी शक्ति- यह भाषा, यह वाणी परिग्रह-वृत्ति में से जन्म पाती है । बन्धन क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा- 'परिग्रह और आरम्भ' । आरम्भ का, हिंसा का जन्म भी परिग्रह में से ही होता है । अतः बन्धन का मुख्य कारण परिग्रह ही माना गया है । मनुष्य धन का उपार्जन एवं संरक्षण इसलिए करता है कि इससे उसकी रक्षा हो सकेगी । परन्तु यह विचार ही मिथ्या है, भ्रान्त है । भगवान् ने तो स्पष्ट कहा है- 'वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते ।' धन कभी किसी की रक्षा नहीं कर सकता है । सम्पति और सत्ता का व्यामोह मनुष्य को भ्रान्त कर देता है । सम्पति इच्छा को, सत्ता अहंकार को जन्म देकर, सुख की अपेक्षा दुःख की ही सृष्टि करती है ।

सुख का राज-मार्ग :

> *सुख तृष्णा के क्षय में है, सुख इच्छा के निरोध में है ।*

इच्छा और तृष्णा पर विजय पाने के लिए भगवान् ने कहा- 'इच्छाओं का परित्याग कर दो ।' सुख का यही राजमार्ग है । यदि इच्छाओं का सम्पूर्ण त्याग करने की क्षमता तुम अपने अन्दर नहीं पाते, तो इच्छाओं का परिमाण कर लो । यह भी सुख का एक अर्ध-विकसित मार्ग है ।' संसार में भोग्य पदार्थ अनन्त है । किस-किस की इच्छा करोगे, किस-किस को भोगोगे । पुद्गलों का भोग अनन्त काल से हो रहा है, क्या शान्ति एवं सुख मिला ? सुख तृष्णा के क्षय में है, सुख इच्छा के निरोध में है । सुखी होने के उक्त मार्ग को भगवान् ने अपनी वाणी में अपरिग्रह एवं इच्छा परिमाण व्रत कहा है । यह साधक की शक्ति पर निर्भर है कि वह कौन-सा मार्ग ग्रहण करता है । आखिरी सिद्धान्त तो यह है कि परिग्रह का परित्याग करो । धीरे-धीरे करो या एक साथ करो, पर करो अवश्य ।

परिग्रह : मूर्च्छाभाव :

परिग्रह क्या है ? इसके विषय में भगवान् ने अपने प्रवचनों में इस प्रकार कहा है-

'वस्तु अपने आप में परिग्रह नहीं है, यदि उसके प्रति मूर्च्छा-भाव आ गया है तो वह परिग्रह हो गया ।'

'जो व्यक्ति स्वयं संग्रह करता है, दूसरों से संग्रह करवाता है, संग्रह करने वालों का अनुमोदन करता है । वह भव-बन्धनों से कभी मुक्त नहीं हो सकेगा ।'

'संसार के जीवों के लिए परिग्रह से बढ़कर अन्य कोई पाश (बन्धन) नहीं है ।'

'धर्म के मर्म को समझने वाले ज्ञानीजन अन्य भौतिक साधनों में तो क्या, अपने तन पर भी मूर्च्छा भाव नहीं रखते ।'

'धन-संग्रह से दुःख की वृद्धि होती है, धन ममता का पाश है और वह भय को उत्पन्न करता है ।'

'इच्छा आकाश के समान अनन्त है, उसका कभी अंत नहीं आता ।'

संसार का कारण :

परिग्रह क्लेश का मूल है और अपरिग्रह सुखों का मूल । तृष्णा संसार का कारण है, सन्तोष मोक्ष का । इच्छा से व्याकुलता उत्पन्न होती है । सन्तोष बाह्य वस्तु में नहीं, मनुष्य की भावना में है । तन आत्मा के अधीन है, या आत्मा तन के ? भौतिकवादी कहता है-

परिग्रह क्लेश का मूल है और अपरिग्रह सुखों का मूल है। तृष्णा संसार का कारण है, सन्तोष मोक्ष का।

शरीर ही सब कुछ है । अध्यात्मवादी कहेगा- यह ठीक नहीं है । यह शरीर ही आत्मा के अधीन है, जब तक शरीर है, तब तक बाह्य वस्तु का सर्वथा त्याग शक्य नहीं परन्तु अपनी तृष्णा पर पूरा नियंत्रण होना चाहिए । बिना इसके अपरिग्रह का पालन नहीं हो सकेगा । अपरिग्रहवाद की सबसे पहली मांग है- इच्छा निरोध की । इच्छा निरोध यदि नहीं हुआ तो तृष्णा का अंत नहीं होगा । इसका अर्थ यह नहीं है कि सुखकर वस्तुओं का, खाने-पीने की वस्तुओं का सेवन ही न करें । करें, किन्तु शरीर रक्षा के लिए, सुख भोग की भावना से नहीं और वह भी निर्लिप्त होकर ।

अपरिग्रह और संस्कृति :

अपरिग्रह का सिद्धान्त समाज में शान्ति उत्पन्न करता है, राष्ट्र में समताभाव का प्रसार करता है, व्यक्ति में एवं परिवार में आत्मीयता का आरोपण करता है । परिग्रह से अपरिग्रह की ओर बढ़ना यह धर्म है, संस्कृति है । अपरिग्रह में सुख है, मंगल है और शान्ति है । अपरिग्रहवाद में स्वहित भी है, परहित भी है । अपरिग्रहवाद अधिकार पर नहीं, कर्तव्य पर बल देता है । शान्ति एवं सुख के साधनों में अपरिग्रहवाद एक मुख्यतम साधन है । क्योंकि यह मूलतः आध्यात्मवाद- मूलक होकर भी समाज मूलक है ।

जैन-संस्कृति के महान् संस्कारक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रों में परस्पर होने वाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है। उनका आदर्श है कि धर्म-प्रचार के द्वारा ही विश्व भर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह जँचा दो कि वह 'स्व' में ही सन्तुष्ट रहे, 'पर' की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है- दूसरों के सुख-साधनों को देखकर लालायित हो जाना और उन्हें छीनने का दुःसाहस करना।

आत्मा का संगीत : अहिंसा

जैन संस्कृति की संसार को जो सबसे बड़ी देन है, वह अहिंसा है। अहिंसा का यह महान् विचार, जो आज विश्व-शांति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियाँ कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं- एक दिन जैन-संस्कृति के महान् उन्नायकों द्वारा ही हिंसा-काण्ड में संलग्न उन्मत्त संसार के सामने रखा गया था।

जैन संस्कृति का महान् संदेश है- कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रहकर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज से घुल-मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और आस-पास के अन्य संगी-साथियों को भी आनन्द उठाने दे सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता, तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विराट् बनाए और जिन लोगों के साथ रहना है, काम करना है, उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जब तक मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती समाज में अपनेपन का भाव पैदा न करेगा, अर्थात्- जब तक दूसरे लोग उसको अपना आदमी न समझेंगे और वह भी दूसरों को अपना आदमी न समझेगा, तब तक समाज का कल्याण नहीं हो सकता। एक-दूसरे का आपस में अविश्वास ही तबाही का कारण बना हुआ है।

> *प्रकृति, दुः ख की अपेक्षा हमारे सुख में ही अधिक सहायक है।*

संसार में जो चारों ओर दुःख का हाहाकार है, वह प्रकृति की ओर से मिलने वाला तो मामूली-सा ही है । यदि अधिक अन्तर्निरीक्षण किया जाए, तो प्रकृति, दुःख की अपेक्षा हमारे सुख में ही अधिक सहायक है । वास्तव में जो कुछ भी ऊपर का दुख है, वह मनुष्य पर मनुष्य के द्वारा ही लादा हुआ है । यदि हर एक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरों पर किए जाने वाले दुःखों को हटा ले, तो यह संसार आज ही नरक से स्वर्ग में बदल सकता है ।

अमर आदर्श :

जैन-संस्कृति के महान् संस्कारक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रों में परस्पर होने वाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया है । उनका आदर्श है कि धर्म-प्रचार के द्वारा ही विश्व भर के प्रत्येक मनुष्य के हृदय में यह जँचा दो कि वह 'स्व' में ही सन्तुष्ट रहे, 'पर' की ओर आकृष्ट होने का अर्थ है- दूसरों के सुख-साधनों को देखकर लालायित हो जाना और उन्हें छीनने का दुःसाहस करना ।

हाँ, तो जब तक नदी अपने पाट में प्रवाहित होती रहती है, तब तक उससे संसार को लाभ ही लाभ है, हानि कुछ भी नहीं है । ज्यों ही वह अपनी सीमा से हटकर आस-पास के प्रदेश पर अधिकार जमाती है, बाढ़ का रूप धारण करती है, तो संसार में हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य उपस्थित हो जाता है । यही दशा मनुष्यों की है । जब तक सब के सब मनुष्य अपने-अपने 'स्व' में ही प्रवाहित रहते है, तब तक कुछ

अशान्ति नहीं है, लड़ाई-झगड़ा नहीं है । अशान्त और संघर्ष का वातावरण वहीं पैदा होता है, जहाँ कि मनुष्य 'स्व' से बाहर फैलना शुरू करता है, दूसरों के जीवन उपयोगी साधनों पर कब्जा जमाने लगता है ।

प्राचीन जैन-साहित्य उठाकर आप देख सकते हैं कि भगवान् महावीर ने इस दिशा में बड़े स्तुत्य प्रयत्न किए हैं । वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पाँचवें अपरिग्रह व्रत की मर्यादा में सर्वदा 'स्व' में ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं । व्यापार, उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को अपने न्याय-प्राप्त अधिकारों से कभी भी आगे नहीं बढ़ने दिया, प्राप्त अधिकारों से आगे बढ़ने का अर्थ है- अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष में उतरना ।

जैन-संस्कृति का अमर आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही, उचित साधनों का सहारा लेकर, उचित प्रयत्न करें । आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख-सामग्री का संग्रह करके रखना, जैन संस्कृति में चोरी है । व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र, क्यों लड़ते है ? इसी अनुचित संग्रह-वृत्ति के कारण । दूसरों के जीवन की, जीवन के सुख साधनों की उपेक्षा करके मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता । अहिंसा के बीज अपरिग्रह-वृत्ति में ही ढूँढ़े जा सकते हैं । एक अपेक्षा से कहें, तो अहिंसा और अपरिग्रह वृत्ति, दोनों पर्यायवाची शब्द है ।

> *आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख-सामग्री का संग्रह करके रखना, जैन संस्कृति में चोरी है।*

युध्द और अहिंसा :

आत्मरक्षा के लिए उचित प्रतिकार

> आत्मरक्षा के लिए उचित प्रतिकार के साधन जुटाना, जैन-धर्म के विरुद्ध नहीं है।
>
> साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड बना देता है।

के साधन जुटाना, जैन-धर्म के विरुद्ध नहीं है। परन्तु आवश्यकता से अधिक संग्रहीत एवं संगठित शक्ति, अवश्य ही संहार-लीला का अभिनय करेगी, अहिंसा को मरणोन्मुखी बनाएगी। अतः आप आश्चर्य न करें कि पिछले कुछ वर्षों से जो निशस्त्रीकरण का आन्दोलन चल रहा है, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध सामग्री रखने को कहा जा रहा है, वह जैन तीर्थंकरों ने हजारों वर्ष पहले चलाया था। आज जो काम कानून द्वारा, पारस्परिक विधान के द्वारा लिया जाता है, उन दिनों वह उपदेशों द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बड़े-बड़े राजाओं को जैन-धर्म में दीक्षित किया था और उन्हें नियम दिया गया था कि वे राष्ट्र रक्षा के काम में आने वाले शस्त्रों से अधिक शस्त्र संग्रह न करें, साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड बना देता है। प्रभुता की लालसा में आकर वह कहीं न कहीं किसी पर चढ़ दौड़ेगा और मानव संसार में युद्ध की आग भड़का देगा। इसी दृष्टि से जैन तीर्थंकर हिंसा के मूल कारणों को उखाड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं।

जैन तीर्थंकरों ने कभी भी युद्धों का समर्थन नहीं किया। यहाँ अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओं के हाथों की कठपुतली बनकर युद्ध के समर्थन में लगते आए हैं, राजा को परमेश्वर का अंश बताकर उसके लिए सब कुछ अर्पण कर देने का प्रचार करते आए हैं, वहाँ जैन तीर्थंकर इस सम्बन्ध में काफी कट्टर रहे हैं। 'प्रश्न व्याकरण' और

'भगवती सूत्र' युद्ध के विरोध में क्या कुछ कम कहते हैं ? यदि थोड़ा-सा कष्ट उठाकर देखने का प्रयत्न करेंगे तो बहुत कुछ युद्ध विरोधी विचार सामग्री प्राप्त कर सकेंगे । आप जानते हैं, मगधाधिपति अजातशत्रु कोणिक भगवान् महावीर का कितना परम भक्त था । 'औपपातिक सूत्र' में उसकी भक्ति का चित्र चरम सीमा पर पहुँचा दिया है । प्रतिदिन भगवान् के कुशल समाचार जानकर फिर अन्न-जल ग्रहण करना, कितना उग्र नियम है । परन्तु वैशाली पर कोणिक द्वारा होने वाले आक्रमण का भगवान् ने जरा भी समर्थन नहीं किया; प्रत्युत नरक का अधिकारी बताकर उसके पाप कर्मों का भण्डाफोड़ कर दिया । अजातशत्रु इस पर रूष्ट भी हो जाता है, किन्तु भगवान् महावीर इस बात की कुछ भी परवाह नहीं करते । भला पूर्ण अहिंसा के अवतार रोमांचकारी नर-संहार का समर्थन कैसे कर सकते थे ?

जीओ और जीने दो :

दूसरों के जीने में मदद भी करो और अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिये अपने जीवन की आहूति भी दे डालो।

जैन तीर्थंकरों की अहिंसा का भाव आज की मान्यता के अनुसार निष्क्रियता का रूप भी न था । वे अहिंसा का अर्थ- प्रेम, परोपकार, विश्व बन्धुत्व करते थे । स्वयं आनन्द से जीओ और दूसरों को जीने दो, जैन तीर्थंकरों का आदर्श यही तक सीमित न था । उनका आदर्श था- 'दूसरों के जीने में मदद भी करो और अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिये अपने जीवन की आहूति भी दे डालो । वे उस जीवन को कोई महत्व न देते थे, जो जन-सेवा के मार्ग में सर्वथा दूर रहकर एक-मात्र

> *मेरी सेवा करने की अपेक्षा दीन-दुखियों की सेवा करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है।*

भक्तिवाद के अर्थ शून्य क्रियाकाण्डों में ही उलझा रहता हो ।'

भगवान् महावीर ने तो एक बार यहाँ तक कहा था कि मेरी सेवा करने की अपेक्षा दीन-दुःखियों की सेवा करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है । वे मेरे भक्त नहीं, जो मेरी भक्ति करते हैं, माला फेरते हैं । मेरे सच्चे भक्त तो वे हैं, जो आज्ञा का पालन करते हैं । मेरी आज्ञा है- 'प्राणिमात्र को सुख-सुविधा और आराम पहुँचाना ।' भगवान् महावीर का यह महान् ज्योतिर्मय सन्देश आज भी हमारी आँखों के सामने है, यदि हम थोड़ा-बहुत सत्प्रयत्न करना चाहें, तो ऊपर के सन्देश का सूक्ष्म बीज यदि हममें से कोई देखना चाहें, तो उत्तराध्ययन सूत्र की 'सर्वार्थ-सिद्धि वृत्ति' में देख सकता है ।

अमृतमय सन्देश :

अहिंसा के अग्रगण्य सन्देशवाहक भगवान् महावीर हैं । आज दिन तक उन्हीं के अमर सन्देशों का गौरव-गान गाया जा रहा है । आपको मालूम है कि आज से ढ़ाई हजार वर्ष पहले का समय, भारतीय संस्कृति के इतिहास में एक महान् अन्धकारपूर्ण युग माना जाता है । देवी-देवताओं के आगे पशु बलि के नाम पर रक्त की नदियाँ बहाई जाती थी, मांसाहार और सुरापान का दौर चलता था । अस्पृश्यता के नाम पर करोड़ों की संख्या में मनुष्य अत्याचार की चक्की में पिस रहे थे । स्त्रियों को भी मनुष्योचित अधिकारों से वंचित कर दिया गया था । एक क्या अनेक रूपों में सब ओर हिंसा का घातक साम्राज्य छाया हुआ था ।

भगवान् महावीर ने उस समय अहिंसा का अमृतमय सन्देश दिया, जिससे भारत की काया पलट हो गई। मनुष्य राक्षसी भावों से हटकर मनुष्यता की सीमा में प्रविष्ट हुआ। क्या मनुष्य, क्या पशु, सभी के प्रति उनके हृदय में प्रेम का सागर उमड़ पड़ा। अहिंसा के सन्देश ने सारे मानवीय सुधारों के महल खड़े कर दिए। दुर्भाग्य से आज वे महल फिर गिर रहे हैं। जल, थल, नभ अभी-अभी खून से रंगे जा चुके हैं और भविष्य में इससे भी भयंकर रंगने की तैयारियाँ हो रही है। तीसरे महायुद्ध का दुःस्वप्न अभी देखना बन्द नहीं हुआ है। परमाणु बम के आविष्कार की सब देशों में होड लग रही हैं। सब ओर अविश्वास और दुर्भाव चक्कर काट रहे हैं, अस्तु, आवश्यकता है- आज फिर जैन-संस्कृति के, जैन तीर्थंकरो के, भगवान् महावीर के, जैनाचार्यों के 'अहिंसा परमो धर्मः' के सन्देश की। मानव जाति के स्थायी सुखों के स्वप्नों को एकमात्र अहिंसा ही पूर्ण कर सकती है, और कोई दूसरा विकल्प नहीं -

अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमम् ।

जिस नीति में धर्म नहीं, वह राजनीति, कुनीति रहेगी । राजा की नीति धर्ममय होती है । क्योंकि भारतीय परम्परा में राजा न्याय का विशुद्ध प्रतीक है । जहाँ न्याय वहाँ धर्म होता ही है । न्याय रहित नीति नीति नहीं, अनीति है, अधर्म है ।

पंचशील और पंचशिक्षा

वर्तमान युग में दो प्रयोग चल रहे हैं- एक अणु का, दूसरा सह-अस्तित्व का। एक भौतिक है, दूसरा आध्यात्मिक। एक मारक है, दूसरा तारक। एक मृत्यु है, दूसरा जीवन। एक विष है, दूसरा अमृत।

अणु-प्रयोग का नारा है- 'मैं विश्व की महान् शक्ति हूँ, संसार का अमित बल हूँ, मेरे सामने झुको या मरो।' जिसके पास मैं नहीं हूँ, उसे विश्व में जीवित रहने का अधिकार नहीं है। क्योंकि मेरे अभाव में उसका सम्मान सुरक्षित नहीं रह सकता।

सह-अस्तित्व का नारा है- 'आओ, हम सब मिलकर चलें, मिलकर बैठें और मिलकर जीवित रहें, मिलकर मरें भी। परस्पर विचारों में भेद है, कोई भय नहीं। कार्य करने की पद्धति विभिन्न है, कोई खतरा नहीं। क्योंकि तन भले ही भिन्न हो, पर मन हमारा एक है। जीना साथ है, मरना साथ है। क्योंकि हम सब मानव है और मानव एक साथ ही रह सकते हैं, बिखर कर नहीं, बिगड़ कर नहीं।'

तन भले ही भिन्न हो, पर मन हमारा एक है। जीना साथ है, मरना साथ है। क्योंकि हम सब मानव है।

पश्चिम अपनी जीवन-यात्रा अणु के बल पर चला रहा है और पूर्व सह-अस्तित्व की शक्ति से। पश्चिम-देह पर शासन करता

है और पूर्व देही पर । पश्चिम तलवार-तीर में विश्वास रखता है, पूर्व मानव के अन्तर मन में, मानव की सहज स्नेह-शीलता में ।

आज की राजनीति में विरोध है, कलह है, असन्तोष है और अशान्ति है । नीति, 'भले ही राजा की हो या प्रजा की, अपने आप में पवित्र है, शुद्ध और निर्मल है । क्योंकि उसका कार्य जनकल्याण है, जग विनाश नहीं । नीति का अर्थ है, जीवन की कसौटी, जीवन की प्रामाणिकता, जीवन की सत्यता । विग्रह और कलह को वहाँ अवकाश नहीं । क्योंकि वहाँ स्वार्थ और वासना का दमन होता है । और धर्म क्या है ? सबके प्रति मंगल-भावना । सबके सुख में सुख-बुद्धि और सबके दुःख में दुःख-बुद्धि । समत्व-योग की इस पवित्र भावना को ही धर्म कहा गया है । धर्म और नीति सिक्के के दो बाजू है । दोनों की जीवन-विकास में आवश्यकता भी है, यह प्रश्न अलग है कि राजनीति में धर्म और नीति का गठबन्धन कहाँ तक संगत रह सकता है । विशेषतः आज की राजनीति में जहाँ स्वार्थ और वासना का नग्न ताण्डव नृत्य हो रहा हो । मानवता मर रही हो ।'

धर्म क्या है ? सबके प्रति मंगल-भावना। समत्व-योग की इस पवित्र भावना को ही धर्म कहा गया है।

बुद्ध और महावीर ने समूचे संसार को धर्म का सन्देश दिया- राजनीति से अलग हटकर, यद्यपि वे जन्मजात राजा थे । गाँधीजी ने नीतिमय जीवन का आदेश दिया, राजनीति में भी धर्म का शुभ प्रवेश कराया- यद्यपि गाँधीजी जन्म से राजा नहीं थे । यों गाँधीजी ने राजनीति में धर्म की अवतारणा की । गाँधीजी की भाषा में राजनीति वह है, जो

धर्म से अनुप्राणित हो, धर्म-मूलक हो । जिस नीति में धर्म नहीं, वह राजनीति, कुनीति रहेगी । राजा की नीति धर्ममय होती है । क्योंकि भारतीय परम्परा में राजा न्याय का विशुद्ध प्रतीक है । जहाँ न्याय वहाँ धर्म होता ही है । न्याय रहित नीति, नीति नहीं, अनीति है, अधर्म है ।

> *जहाँ न्याय, वहाँ धर्म होता ही है। न्याय रहित नीति; नीति नहीं, अनीति है, अधर्म है।*

आज भारत स्वतंत्र है और भारत की राजनीति का मूल आधार है- पंचशील सिद्धान्त । इस पंचशील सिद्धान्त के सबसे बड़े व्याख्याकार थे- भारत के प्रथम प्रधान मंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू । भारत, चीन और रूस विश्व की सर्वतोमहान् शक्तियाँ आज इस पंचशील सिद्धान्त के आधार पर परस्पर मित्र बने हैं । गाँधी युग की या नेहरू युग की यह सबसे बड़ी देन है, संसार को । दुनियाँ की आधी से अधिक जनता पंचशील के पावन सिद्धान्त में अपना विश्वास ही नहीं रखती, बल्कि पालन भी करती है । यूरोप पर भी धीरे-धीरे पंचशील का जादू फैल रहा है ।

राजनैतिक पंचशील :

1. **अखण्डता :** एक देश दूसरे देश की सीमा का अतिक्रमण न करे । उसकी स्वतन्त्रता पर आक्रमण न करे । इस प्रकार का दबाव न डाला जाए, जिससे उसकी अखण्डता पर संकट उपस्थित हो ।

2. **प्रभु-सत्ता :** प्रत्येक राष्ट्र की अपनी प्रभु-सत्ता है । उसकी स्वतन्त्रता में किसी प्रकार की बाधा बाहर से नहीं आनी चाहिए ।

3. **अहस्तक्षेप :** किसी देश के आन्तरिक या बाह्य सम्बन्धों में किसी प्रकार का हस्त-क्षेप नहीं होना चाहिए ।

4. **सह-अस्तित्व :** अपने से भिन्न सिद्धान्तों और मान्यताओं के कारण किसी देश का अस्तित्व समाप्त करके उस पर अपने सिद्धान्त और व्यवस्था लादने का प्रयत्न न किया जाए । सबको साथ जीने का, सम्मानपूर्वक जीवित रहने का अधिकार है ।

5. **सहयोग :** एक दूसरे के विकास में सब सहयोग, सहकार की भावना रखें । एक के विकास में सबका विकास है ।

यह है राजनीतिक पंचशील सिद्धान्त, जिसकी आज विश्व में व्यापक रूप में चर्चा हो रही है । 'शील' शब्द का अर्थ, यहाँ पर सिद्धान्त लिया गया है । पंचशील आज की विश्व राजनीति में एक नया मोड़ है । जिसका मूल धर्म भावना में है ।

भारत के लिए पंचशील शब्द नया नहीं है । क्योंकि आज से सहस्रों वर्ष पूर्व भी श्रमण-संस्कृति में यह शब्द व्यवहृत हो चुका है । जैन परम्परा और बौद्ध परम्परा के साहित्य में पंचशील शब्द आज भी अपना अस्तित्व रखता है और व्यवहार में भी आता है ।

बौध्द पंचशील :

भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं के लिए पाँच आचारों का उपदेश दिया था, उन्हें पंचशील कहा गया है । शील का अर्थ यहाँ पर आचार है, अनुशासन है । पंचशील इस प्रकार है-

1. **अहिंसा -** प्राणिमात्र के प्रति समभाव रखो । किसी पर द्वेष मत रखो । क्योंकि सबको प्राण प्रिय है ।

2. **सत्य -** सत्य जीव का मूल आधार है । मिथ्या भाषण कभी मत करो । मिथ्या विचार का परित्याग करो ।

3. **अस्तेय** - दूसरे के आधिपत्य की वस्तु को ग्रहण न करो। जो अपना है, उसमें सन्तोष रखो।

4. **ब्रह्मचर्य** - मन से पवित्र रहो, तन से पवित्र रहो, विषय-वासना का परित्याग करो। ब्रह्मचर्य का पालन करो।

5. **मद त्याग** - किसी भी प्रकार का मद मत करो, नशा न करो। सुरापान कभी हितकर नहीं है।

उत्तराध्ययन सूत्र के 23 वें अध्ययन में केशी-गौतम चर्चा के प्रसंग पर 'पंच-शिक्षा' का उल्लेख मिलता है। पंचशील और पंच शिक्षा में अन्तर नहीं है, दोनों समान है, दोनों की एक ही भावना है। शील के समान शिक्षा का अर्थ भी यहाँ आचार है। श्रावक के द्वादश व्रतों में चार शिक्षा व्रत कहे जाते हैं। पंच शिक्षाएं ये हैं-

जैन पंच शिक्षा :

1. **अहिंसा** - जैसा जीवन तुझे प्रिय है, वैसा ही सबको। सब अपने जीवन से प्यार करते हैं, अतः किसी से द्वेष-घृणा मत करो।

2. **सत्य** - जीवन का मूल केन्द्र है। सत्य साक्षात् भगवान् है। सत्य का अनादर आत्मा का अनादर है।

3. **अस्तेय** - अपने श्रम से प्राप्त वस्तु पर ही तेरा अधिकार है। दूसरे की वस्तु के प्रति अपहरण की भावना मत रखो।

4. **ब्रह्मचर्य** - शक्ति संचय। वासना संयम। इसके बिना धर्म स्थिर नहीं होता। संयम का आधार यही है। यह ध्रुव धर्म है।

5. **अपरिग्रह** - आवश्यकता से अधिक संचय पाप है। संग्रह में परपीड़न होता है। आसक्ति बढ़ती है। अतः परिग्रह का त्याग करो।

वैदिक पंच यम :

वैदिक धर्म का पंच-यम जैन पंच-शिक्षा के सर्वथा समान है । भावना में भी और शब्द में भी । पंच-यम का उल्लेख योग-सूत्र में इस प्रकार है- **अहिंसासत्यास्तेब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः l** यम का अर्थ है, संयम, सदाचार, अनुशासन ।

भारत की राजनीति में आज जिस पंचशील की चर्चा की जा रही है, प्रचार हो रहा है, वह भारत के लिए नया नहीं है । भारत हजारों वर्षों से पंचशील का पालन करता चला आ रहा है । राजनीति के पंचशील सिद्धान्त का विकास बौद्ध पंचशील से, जैन पंच-शिक्षा से और वैदिक पंच-यम से भावना में बहुत कुछ मेल खा जाता है ।

बौद्ध पंचशील और जैन पंच-शिक्षा की मूल आत्मा सह अस्तित्व और सहयोग में है ।

मानवतावादी समाज का कल्याण और उत्थान अणु से नहीं, सह अस्तित्व से होगा- यह एक ध्रुव सत्य है ।

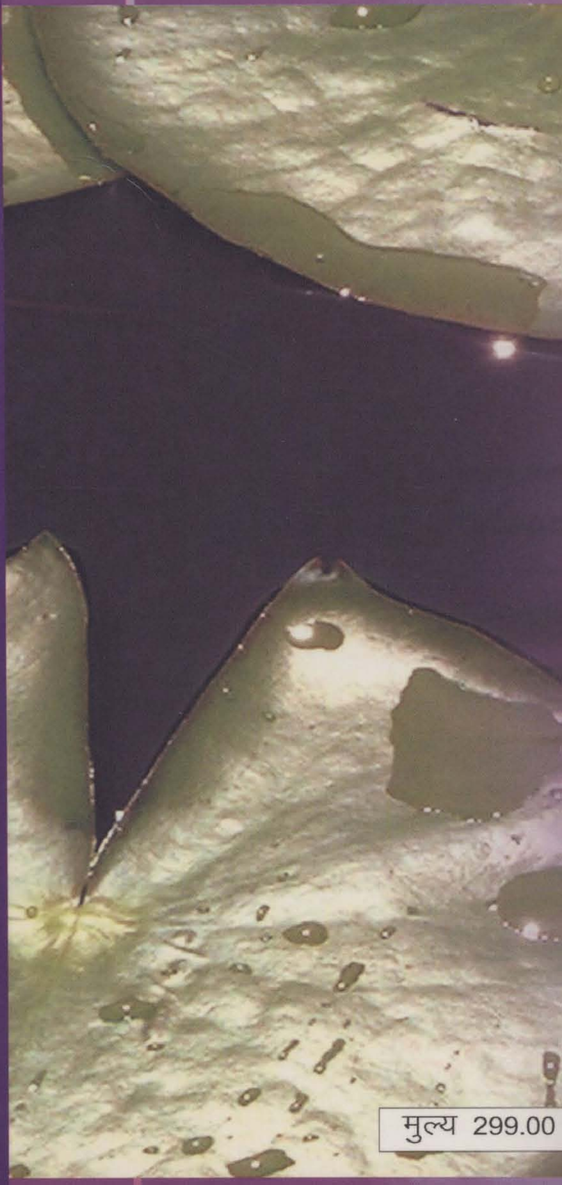

ISBN: 978-81-904253-0-8
9 788190 425308

www.sugaldamani.com

मुल्य 299.00